यहां दूसरी पंक्ति में बताया गया है कि सब देवताओं ने मिलकर लक्ष्मी को श्री विष्णु के प्रति अर्पित किया और उन्होंने लक्ष्मी को पत्नी बनाकर कहावत के अनुसार चारों युगों तक साथ रखा। परन्तु इसके साथ इस पंक्ति में यह भी अर्थ छिपा है कि विष्णु के साथ लक्ष्मी का सदा रहना भी असंभव है। भले पौराणिक कल्पना हो कि श्री विष्णु तथा लक्ष्मी सदैव साथ रहते हैं। परन्तु विष्णु यदि देहधारी थे तो वे कब के देह छोड़ चुके होंगे और लक्ष्मी भी देह छोड़ चुकी होंगी। हर देहधारी संसार को छोड़ने के लिए एक दिन विवश है। भावनाओं के लोकों का विचरण जगत के तथ्य को नहीं बदल सकता।

"प्रथम पदुमिनी रूप आहि, है साँपिनि जग खेदि खाहि।" स्त्रियां चार प्रकार की मानी गयी हैं—पद्मिनी, चित्रणी, हस्तिनी तथा शंखिनी। इनके जोड़े पुरुष हैं क्रमशः शशा, मृग, वृषभ तथा गर्दभ। इनके अलावा दो उपलक्षणों वाली स्त्रियां मानी गयी हैं, इनके नाम हैं नागिनी तथा डंकिनी। इनके पुरुष हैं क्रमशः अश्व तथा महिष। इन सब का वर्णन कामशास्त्र तथा कोकशास्त्र में मिलता है। स्त्री और पुरुषों के शरीर के अंगों के लक्षणों को लेकर पंडित लोग निर्धारित करते हैं कि कौन स्त्री तथा पुरुष किस लक्षण के हैं। स्त्रियों में पद्मिनी के अंगों के लक्षण उत्तम हैं तथा पुरुषों में शशा के अंगों के लक्षण उत्तम हैं। इनके लक्षणों का वर्णन करना काम-वासना प्रदीपन में सहायक हो सकता है। इसलिए कल्याणार्थियों के लिए हानिकर समझकर इस प्रसंग को यहां नहीं बढ़ाया जा रहा है।

सद्गुरु कबीर वैराग्यप्रवर संत थे। उन्होंने स्त्रियों में उत्तम अंगों के लक्षणों वाली पद्मिनी का नाम लेकर काम-वासना पर वैराग्य का करारा कुल्हाड़ा चलाया है। वे कहते हैं कि यह पद्मिनी उत्तम लक्षणों वाली कहलाती है, परन्तु विवेक से देखें तो भयंकर सर्पिणि है और लोगों को खदेड़कर खा जाती है। कामी कवियों ने स्त्रियों को काम-वासना का खिलौना बना डाला है। उन्होंने स्त्रियों के एक-एक अंग का इतना शृंगारिक तथा कामोद्दीपक वर्णन किया है कि उससे स्त्री और पुरुष दोनों का पतन है। कामियों के ऐसे वर्णन तथा पुरुषों को स्त्रियों के प्रति लंपट देखकर वैराग्यवान संतों ने समाज को इस काम-वासना से विरत करने के लिए इससे मनुष्यों की पतनशीलता का वर्णन किया और स्त्रियों के शरीर में दोष-दर्शन कराया। यहां साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! जिस स्त्री-देह को तुम उत्तम लक्षणों वाली मानकर उसके प्रति आसक्त हो रहे हो, वह तेरे बंधनों का कारण है। काम-वासना के अधीन होकर केवल पुरुष ही नहीं, किन्तु नारी भी दुखों एवं बंधनों का शिकार होती है। अतएव काम-वासना ही नारी है और नर-नारी दोनों की देह में रहने वाले चेतन पुरुष हैं। अतएव इन चेतन पुरुषों के कल्याण के लिए आवश्यक है कि काम-वासनारूपी नारी के जाल से वे मुक्त हों।

"ई बर जोवत ऊ बर नाहिं, अति रे तेज त्रिय रैनि ताहि।" हर स्त्री अपना 'वर' खोजती है। अर्थात अपने लक्षणों वाला पति खोजती है, जैसे पद्मिनी शशा को, चित्रणी मृग को, हस्तिनी वृषभ को, शंखिनी गर्दभ को, नागिनी अश्व को तथा डंकिनी महिष को। यदि इनमें से किसी को अपना जोड़ा न मिलकर बेमेल मिलता है तो उसके मन को सन्तोष नहीं होता, बल्कि उसे काम-वासना की रात में अत्यन्त तीव्र मनोवेग सताते हैं। यह सब कामशास्त्र का विषय है। आंगिक अध्ययन के अनुसार इन बातों में कुछ सत्यता हो सकती है, परन्तु तथ्य तो यह है कि भोग से इच्छा तथा इच्छा से भोग का घनचक्कर बढ़ता है। अतृप्ति इच्छा का परिणाम है। इच्छा भोग का परिणाम है। काम-वासना का उद्वेग इसलिए होता है कि संसार के नर तथा नारी काम-भोग को महत्त्व देते हैं, उसी में लगे रहते हैं, इसलिए उसकी आदत बनकर इच्छा बन जाती है और आदत तथा इच्छा जीव को बैठने नहीं देतीं।

"कहहिं कबीर ये जग पियारि, अपने बलकवहिं रहल मारि।" कबीर साहेब कहते हैं कि यह माया जगत के लोगों को प्यारी लगती है, परन्तु उनको यह पता नहीं है कि यह अपने बालकों को ही मार खाती है। कबीर साहेब की यह सब वैरागी-भाषा है। कहा जाता है कि सर्पिनि अंडे देती है। अंडों से बच्चे निकलते हैं। सर्पिनि अपनी देह की कुंडली में बच्चों को रखकर उन्हें खाती है। जो बच्चा कहीं कुंडली से बाहर निकल जाता है वही बच पाता है। इसी प्रकार माया सबको जन्म देकर पुनः उनको अपनी कुंडली में बांधकर और उन्हें अपने में आसक्त कर मार खाती है।

इस वसन्त में 'नारि' शब्द में माया तथा स्त्री दोनों अर्थों का श्लेष है। अर्थात यहां नारि के ये दोनों अर्थ हैं। नारि का मुख्य अर्थ माया है जो किसी के अधीन नहीं होती, परंतु उसमें फंसने वाले भव-बंधनों में पड़कर मारे जाते हैं।

ज्ञानी जीव के लक्षण

बसन्त-6

माई मोर मनुसा अतिर सुजान, धन्धा कुटि कुटि करत बिहान॥ 1॥
बड़ी भोर उठि आँगन बाढ़ु, बड़ो खाँच ले गोबर काढ़ु॥ 2॥
बासी भात मनुसे लिहल खाय, बड़ो धैल लिये पानी को जाय॥ 3॥
अपने सैयाँ की मैं बाँधूँगी पाट, लै बेचूँगी हाटो हाट॥ 4॥
कहहिं कबीर ये हरि के काज, जोइया के ढिग रहि कौनि लाज॥ 5॥

शब्दार्थ—माई= माता, चेतनाशक्ति, आत्मशक्ति। मनुसा= मनुष्य, मर्द, पति। सुजान= समझदार, ज्ञानी। धन्धा= काम-काज, साधना। बिहान= सबेरा। ज्ञान। भोर= सबेरा, प्रातःकाल। आँगन= हृदय। बाढ़ु= बुहारना। खाँच= टोकरी, अनासक्ति की टोकरी। गोबर= विषयासक्ति। काढ़ु= निकाल फेंकना। बासी भात= प्रारब्ध भोग।

बड़ो घैल= बड़ा घड़ा, सद्बुद्धि, अच्छी समझदारी। पानी= सत्संग, ज्ञान। सैयाँ= पति, चेतन पुरुष। पाट= कपड़ा, आंचल। हरि= ज्ञान। जोइया= पत्नी, स्वरूपस्थवृत्ति, आत्मा में रमने वाली वृत्ति। लाज= लज्जा।

रूपक—एक युवती लड़की अपनी ससुराल से पहली बार नैहर आयी, तो माता ने उससे उसकी ससुराल का कुशल-मंगल पूछा। ज्यादा तो यह पूछा कि तुम्हारे पतिदेव का स्वभाव कैसा है! पुत्री ने अपनी माता को बताया—हे माता! मेरे पतिदेव बड़े समझदार हैं। वे आधी रात के बाद से ही ढेंकी से धान कूटना शुरू करते हैं और उसे कूटते-कूटते सबेरा करते हैं। जब सबेरा हो जाता है तब घर-आंगन बुहार लेते हैं और एक बड़ी टोकरी लेकर पशु-शाला से गोबर निकालकर घूर में फेंक आते हैं। पतिदेव केवल परिश्रमी ही नहीं हैं, बड़े संतोषी भी हैं। वे बासी-भात खा लेते हैं। उसके बाद मेरे नहाने-धोने के लिए बड़े-बड़े घड़े लेकर पानी भरने जाते हैं। हे माता! मैं अपने ऐसे प्रेमी एवं वफादार पति की महिमा को अपने आंचल में बांध रखूंगी और उसे हाटोहाट बेचती फिरूंगी। अर्थात मैं अपने पतिदेव का सर्वत्र गुणानुवाद करती फिरूंगी। कबीर साहेब कहते हैं कि यही ज्ञान का व्यवहार है। ऐसी सौभाग्यवती पत्नी के साथ में रहने से क्या लज्जा है!

भावार्थ—स्वरूपस्थवृत्ति आत्मशक्ति से कहती है कि हे माता! मेरा पति चेतन देव बड़ा ज्ञानी है। यह निरंतर साधना करते-करते माया की अंधियारी का नाश कर देता है॥ 1॥ वह नित्य प्रातः उठकर विवेक-विचाररूपी झाड़ू से हृदयरूपी आंगन को बुहार देता है और अनासक्तिरूपी बड़ी टोकरी लेकर विषयासक्तिरूपी गोबर को निकालकर फेंक देता है॥ 2॥ वह अनासक्तिपूर्वक बासी रूप प्रारब्ध भोगों को भोगता है और अपनी विशाल समझदारी एवं सद्बुद्धिरूपी घड़े लेकर गुरु-संतों के सत्संग-सरोवर में निर्णयरूपी जल भरने जाता है॥ 3॥ हे चेतनाशक्ति माता! मैं अपने चेतन-पतिदेव की इस महिमा को अपने आंचल में बांधकर ग्राम, बाजार, शहर सर्वत्र इसका प्रचार करूंगी॥ 4॥ कबीर साहेब कहते हैं कि यही ज्ञान का काम है। चेतन पुरुष को ऐसी स्वरूपस्थवृत्ति रूपी पत्नी के साथ में रहने में कोई लज्जा नहीं होनी चाहिए॥ 5॥

व्याख्या—पिछले वसन्त में आया है "अपने बलकवहिं रहल मारि" यह माया अपने बालकों को ही मार रही है, क्योंकि "है साँपिनि जग खेदि खाहि" यह माया सांपिनि है। यह खदेड़कर खा जाती है। प्रश्न होता है कि क्या किसी प्रकार की पत्नी ठीक नहीं है! उत्तर में मानो सद्गुरु यह वसन्त बोलते हैं कि नहीं, ऐसी बात नहीं है। यह जो स्वरूपस्थवृत्ति एवं समाधिलीनवृत्तिरूपी पत्नी है, इसके साथ में रहने से कोई लज्जा नहीं करनी चाहिए। यह तो परमादर, परम प्रतिष्ठा ही का कारण नहीं, किन्तु परम शांति का कारण है।

"माई मोर मनुसा अतिरे सुजान, धन्धा कुटि कुटि करत बिहान।" स्वरूपस्थवृत्ति

एवं समाधिलीनवृत्ति कहती है कि हे चेतनाशक्ति एवं आत्मशक्ति माता! मेरा पति चेतनदेव बड़ा ज्ञानी है। वह निरंतर साधना द्वारा अज्ञान-रात का सर्वथा नाश कर देता है। यह चेतन चेतना का पति है। जिस चेतन एवं जीव को स्वरूपज्ञान की समझ हो जाती है, उसकी दुनिया बदल जाती है। ज्ञान होने का अर्थ है निरन्तर साधना में लगे रहना। जो साधक निरंतर साधना में लगा रहता है वह विहान कर देता है। विहान का शाब्दिक अर्थ है विशेष हान, अर्थात एकदम नाश, और विहान का लक्षणा अर्थ है सबेरा, क्योंकि जब अंधकार का एकदम नाश हो जाता है तब सबेरा हो जाता है। "धन्धा कुटि-कुटि" में धान कूटने की व्यंजना है। धान कूटने से उसके असार अंश छिलके निकल जाते हैं और सार स्वच्छ चावल रह जाता है। इसी प्रकार जो साधक निरंतर साधना करता है उसके मन से असार विषय-वासनाएं, गलत आदतें एवं माया-मोह निकल जाते हैं और शुद्ध चेतनस्वरूप की स्थिति रह जाती है। निरन्तर साधना का परिणाम ही है जीवन में शांति।

"बड़ी भोर उठि आँगन बाढ़ु" संसार में देखा जाता है कि सावधान लोग एकदम सबेरे ही उठकर अपने घर-आंगन बुहारते हैं। ज्ञानी पुरुष का भी यही काम होता है। उसकी नींद ब्राह्ममुहूर्त में ही खुल जाती है और वह तुरन्त विवेक-विचार रूपी झाड़ू लेकर हृदयरूपी आंगन को बुहारने लगता है। सच्चा साधक वह नहीं है कि जो देर तक सोता रहता है। सच्चा साधक वह है जो ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाता है। प्रातःकाल का मन बालक के मन के समान कोमल और स्वच्छ होता है। प्रातः उसके द्वारा साधना करना परम कर्तव्य है। इसके लिए आचरणों की पवित्रता आवश्यक है। जिसने पिछले दिन खुराफाती व्यवहार किया है सुबह उठकर उसका मन निर्मल बच्चे के मन के समान नहीं रह सकता। अतएव शांति-इच्छुक को चाहिए कि वह अपने सारे व्यवहार निष्कामभावपूर्वक, अहिंसापूर्वक एवं सद्भावपूर्वक करे। जिसके जीवन के सारे व्यवहार निष्काम एवं कोमलभावपूर्वक होते हैं उसका मन मक्खन के समान होता है, और प्रातःकाल तो अधिक स्वच्छ होता है। साधना के लिए प्रातःकाल बहुत अच्छा होता है। एक तो प्रकृति में शांति रहती है, दूसरी बात वातावरण प्राणप्रद वायु से व्याप्त रहता है, तीसरी बात मन हलका-फुलका रहता है। इसलिए प्रातःकाल ही उठना चाहिए और अपना मन शोधना चाहिए। प्रातःकाल किसी समस्या पर विचार करने से उसका समाधान अच्छा सूझता है। हम एकांत होकर जितना सोचेंगे, हमारे जीवन का व्यवहार उतना ही सुलझेगा।

"बड़ो खाँच ले गोबर काढ़ु" पशु-शाला से गोबर निकाल तथा टोकरी में भरकर घूर में फेंका जाता है। यह ग्राम का नित्य का अनुभव है। साधक भी एक किसान है। उसके मन में जो विषयासक्ति का गोबर रोज इकट्ठा होता रहता है उसे वह अनासक्तिरूपी टोकरी में भरकर बाहर फेंक देता है। इसका अर्थ है कि साधक का यह परम कर्तव्य है कि वह सब समय मन को विषयासक्ति से निवृत्त करने का प्रयत्न

करता रहे। विषयासक्ति ही मलिनता है। इस मलिनता का त्याग करने वाला परमोज्ज्वल मानव है और वही परम शांति पाता है।

"बासी भात मनुसे लिहल खाय" गांवों में सुबह लोग बासी भात खाते हैं। यह भी गांव का अच्छा अनुभव है। बासीभात है प्रारब्धभोग। जो भात पिछले दिन का बनाया हुआ रखा है वही तो आज बासी है। इसी प्रकार जो पिछले जन्मों के कर्मभोगों के जोर से यह वर्तमान शरीर तथा इसके सुख-दुख भोग बने हैं यही प्रारब्ध है। विवेकवान इसे अनासक्त होकर भोगता है। ज्ञानी क्रियमाण कर्म का त्याग कर देता है, संचित कर्म ज्ञान से जल जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म तो भोगना पड़ता है, जैसे श्वास लेना-छोड़ना, खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना तथा इन सबके लिए श्रम करना आदि। शरीर-यात्रा ही प्रारब्ध भोग है और इसका अनासक्त होकर वर्तमान करना बासी भात खाना है। विवेकवान खाना-पीना आदि शरीर की सारी आवश्यक क्रियाओं को अनासक्त होकर करता है।

"बड़ो घैल लिये पानी को जाय" गांवों का यह सामान्य अनुभव है कि लोग बड़े-बड़े घड़े लेकर दूर कुआं, तालाब, झरने आदि से पानी लेने जाते हैं। अच्छी समझदारी ही मानो बड़ा घड़ा है, जिसे लेकर साधक साधु-सन्तों की संगतरूपी स्वच्छ सरोवर में जाता है और वहां से ज्ञान का पवित्र जल भर-भर कर लाता है। तात्पर्य यह है कि सच्चा साधक सदैव सत्संग-परायण होता है। वह नित्य सत्संग में बैठकर अपनी समझ को सद्ज्ञान से भरता जाता है।

"अपने सैयाँ की मैं बाँधूँगी पाट, लै बेचूँगी हाटो हाट।" स्वरूपस्थवृत्ति कहती है कि मैं अपने ऐसे पतिदेव की महिमा को सदैव अपने हृदय में रखूंगी और उसे सर्वत्र फैलाती रहूंगी। अर्थ यह है कि जो व्यक्ति उपर्युक्त दिव्य आचरणों से संपन्न होता है उसकी मनोवृत्तिरूपी पत्नी सदैव आनंदित होती है। जिसकी रहनी दिव्य है उसकी मनोवृत्ति आनन्दमय होगी ही, और जिसके ये दोनों हैं उसकी सुगंधी संसार में फैलेगी ही।

"कहहिं कबीर यह हरि के काज, जोइया के ढिग रहि कौनि लाज।" सद्गुरु कहते हैं कि यही ज्ञान का व्यवहार है। हरि ज्ञान है। गुरु को भी हरि कह सकते हैं। उसका भी अर्थ ज्ञान पर ही आयेगा। गुरु का तो यही काज है और ज्ञान का भी यही काज है कि जीवन की रहनी पवित्र हो, विषयासक्ति की सर्वथा निवृत्ति हो, मन शांत हो और स्वरूपस्थवृत्ति, समाधिलीनवृत्ति एवं शांतिरूपी पत्नी के साथ चेतन-पुरुष का निवास हो, तो ऐसी जोइया के ढिग रहने से जीव के लिए लज्जा की बात ही नहीं है। यह तो अत्यंत प्रशंसनीय है। जो चेतन पुरुष अपनी स्वरूपस्थवृत्तिरूपी पत्नी के साथ निरन्तर निवास करता है वह धन्य है। उसी का देहधारण करना सफल है। अर्थात जो जीव नित्य शांति में लीन है वह धन्य है।

वासनाओं को छोड़कर तुम स्वयं कृतार्थ हो

बसन्त-7

घरहि में बाबुल बाढ़लि रारि, उठि उठि लागलि चपल नारि॥ 1॥
एक बड़ी जाके पाँच हाथ, पाँचों के पचीस साथ॥ 2॥
पचीस बतावैं और और, और बतावैं कइ एक ठौर॥ 3॥
अन्तर मध्ये अन्त लेइ, झकझोरि झोरा जीवहिं देइ॥ 4॥
आपन आपन चाहैं भोग, कहु कैसे कुशल परिहैं योग॥ 5॥
विवेक विचार न करे कोय, सब खलक तमाशा देखें लोय॥ 6॥
मुख फारि हँसे राव रंक, ताते धरे न पावैं एको अंक॥ 7॥
नियरे न खोजैं बतावैं दूरि, चहुँदिश बागुलि रहलि पूरि॥ 8॥
लच्छ अहेरी एक जीव, ताते पुकारै पीव पीव॥ 9॥
अबकी बार जो होय चुकाव, कहहिं कबीर ताकी पूरी दाव॥10॥

शब्दार्थ—घर= शरीर, अंतःकरण। बाबुल= बाबू, जीव। रारि= झगड़ा। एक= वासना। पाँच हाथ= पांच ज्ञानेन्द्रियां—कान, त्वचा, आंख, जिह्वा तथा नाक। पचीस= पचीस प्रकृतियां। अन्त= सर्वस्व, नाश। खलक= संसारी मनुष्य। अंक= चिह्न, लक्षण। बागुलि= बागुर, फांस, जाल। लच्छ= लाख, लाखों। अहेरी= शिकारी। चुकाव= अदा करना, निबटना, वासनाओं का पूर्ण त्याग करना। दाव= दावं, अवसर, कार्यसिद्धि का सुयोग।

भावार्थ—हे बाबू! घर ही में झगड़ा बढ़ा हुआ है, मन ही सदैव द्वंद्व-ग्रसित है। चंचल स्त्रियां उठ-उठकर झगड़ रही हैं॥ 1॥ एक स्त्री बड़ी है वह वासना है। उसके पांच हाथ हैं—कान, त्वचा, आंख, जिह्वा तथा नाक। इन पांचों के साथ पचीस प्रकृतियां हैं॥ 2॥ ये पचीसों जीव को भिन्न-भिन्न स्थानों पर ले जाती हैं। फिर तो वहां और अनेक गलत आदतें बन जाती हैं और वे उसे और अन्य-अन्य जगह ले जाकर घसीटती हैं॥ 3॥ ये वासनारूपी चपल स्त्रियां मनुष्य के भीतर घुसकर सर्वस्व हरण कर लेती हैं तथा उसका पतन कर देती हैं और उसे बारम्बार झकझोरती रहती हैं॥ 4॥ ये सारी इंद्रियां अपना-अपना भोग चाहती हैं। कहो भला! लोगों के कल्याण का संयोग कैसे होगा!॥ 5॥ कोई विवेक-विचार नहीं करता है, बल्कि संसारी लोग घुस-घुसकर विषयों का ही तमाशा देखते हैं जिससे उनका मन और उलझता है॥ 6॥ राजा हो या दरिद्र, जिससे विषयों की वासनाएं बढ़ें ऐसी क्रिया में ही लगे रहते हैं और उन्हीं में मुख फाड़-फाड़कर हंसते तथा आनंद मनाते हैं। इसीलिए वे शांति का एक लक्षण भी नहीं धारण कर पाते॥ 7॥ शिक्षित हो या अशिक्षित शांति, तृप्ति, परमात्मा, मोक्ष आदि शब्दों से व्यक्त अपने परम लक्ष्य को अपने पास एवं अपनी आत्मा में नहीं खोजते, बल्कि उसे दूर बताते हैं, परन्तु अपनी आत्मा के अलावा तो चारों तरफ बंधनों का ही जाल फैला है॥ 8॥ एक जीव के ऊपर लाखों शिकारी हैं, इसलिए जीव बेचारा अपने स्वरूप की महत्ता न समझकर ईश्वर-ईश्वर पुकारता रहता है॥ 9॥ परन्तु कबीर

साहेब कहते हैं कि यदि कोई आज इस जीवन में अपने स्वरूप को समझकर सारी वासनाओं का त्याग कर दे तो मानो उसने बाजी मार ली॥ 10॥

व्याख्या—"घर ही में बाबुल बाढ़लि रारि।" इस अर्धाली में "बाबुल' तथा 'रारि' ये दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। बाबुल का अर्थ पिता होता है। अवधक्षेत्र में बच्चे भी एक दूसरे को भाई या मित्र की दृष्टि से बाबुल कहते रहते हैं। 'रारि' कहते हैं झगड़ा को। कबीर साहेब मानव मात्र के लिए प्यार के भाव से बाबुल शब्द का प्रयोग करते हैं। अतएव यहां बाबुल का अर्थ है बाबू, भैया, मित्र आदि। साहेब कहते हैं कि हे भाई! घर ही में झगड़ा बढ़ गया है, फिर बाहर की क्या बात करें! कबीर साहेब हर विषय में बुनियाद को पकड़ते हैं। उत्साहीजन लोककल्याण की बात बहुत करते हैं, परन्तु कबीर साहेब आत्मकल्याण की बात करते हैं। लोग कहते हैं कि संसार के लोग भ्रष्ट हो गये हैं, परन्तु कबीर साहेब कहते हैं "कबीर हम सबते बुरे।" हम अपने हृदय को देखें कि हमारे में कुछ बुराई है कि नहीं। साहेब कहते हैं कि तुम दूसरे के झगड़े को क्या देखते हो! तुम अपने अन्दर झांककर देखो, तो तुम्हारे भीतर बहुत बड़ा झगड़ा मिलेगा। भीतर के झगड़े से ही बाहर का झगड़ा बढ़ता है। जिसके मन के भीतर झगड़ा नहीं रह जाता, उसके द्वारा बाहर झगड़ा नहीं होता। अतएव हमें चाहिए कि हम अपने मन के भीतर के झगड़े को समाप्त करें।

यह शरीर एक घर है और इसके भीतर सब समय झगड़ा चल रहा है। इस झगड़े में चपल स्त्रियां उठ-उठकर लगती रहती हैं। इसमें एक स्त्री बड़ी है, वह वासना है। उसके बाद पांच स्त्रियां हैं। वे मानो उस पहली वाली एक के पांच हाथ हैं अर्थात बल हैं। वे कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, और उनकी सहायिका पचीस स्त्रियां हैं। वे हैं पचीस प्रकृतियां। कथन बड़ा मनोवैज्ञानिक है। इस शरीर-घर में वासना बड़ी स्त्री है। यहां बड़ी का अर्थ है बलवती। यह वासना बलवती है। इसे रखकर कोई शांति नहीं पा सकता। इसे नष्टकर ही शांति मिल सकती है। इस वासनारूपी बलवती स्त्री के पांच हाथ अर्थात बल हैं कान, त्वचा, आंख, जिह्वा तथा नाक। इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ग्रहण किये जाते हैं। जीवन-रक्षा के लिए शुद्ध एवं अनासक्त होकर इन पांचों विषयों को ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु जहां अविवेक है वहां इन इंद्रियों द्वारा दूषित पांचों विषयों का उपभोग होता है। इसलिए वासना अधिक बलवती होती है। जैसे एक तालाब हो और उसमें बाहर से पानी आने के लिए पांच नहरें हों। यदि हमें तालाब सुखाना है तो पहला काम नहरों के मुख को बांध देना है, जिससे उनसे तालाब में पानी न आवे, फिर पीछे तालाब के पानी को उलीच देना है, तब तालाब सूख जायेगा। वैसे यदि वासना का सरोवर सुखाना है तो पांचों ज्ञानेन्द्रियों को वश में करना पड़ेगा, क्योंकि इन्हीं द्वारा पांचों विषयों की आसक्ति अन्तःकरण-सरोवर में इकट्ठी होती है। पांचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयोपभोग ही वासना को बल देते हैं। इसीलिए सद्गुरु ने वासनारूपी बलवती स्त्री के पांच हाथ इन इंद्रियों को

कहा है।

इन पांचों इंद्रियरूपी स्त्रियों की अन्य पचीस स्त्रियां सहायिका हैं। पृथ्वी तत्त्व की पांच प्रकृतियां हैं—हाड़, चाम, मांस, नस तथा रोम; जल की लार, मूत्र, वीर्य, रक्त और पसीना; अग्नि की भूख, प्यास, आलस्य, नींद तथा जमुहाई; वायु की बलकरन, संकोचन, पसारन, बोलन तथा धावन; स्थिर वायु या आकाश की काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय[1] माना गया है। ये प्रकृतियां हैं जो पांचों ज्ञानेन्द्रियों को बल देती हैं। ये पचीस प्रकृतिरूपी स्त्रियां जीव को अनेक तरफ खींचती हैं और यह जीव उनमें भटककर अपनी स्थिति से बहुत दूर हो जाता है।

सभी इंद्रियों, प्रकृतियों आदि का निचोड़ वासना है। यह वासना मनुष्य के भीतर धंस जाती है। "अन्तर मध्ये अन्त लेइ" और भीतर धंसकर जीव का सर्वस्व नष्ट कर देती है। जीव का सर्वस्व है शांति। वासना से शांति नष्ट होती है। हृदय में जितनी मात्रा में वासना होगी उतनी मात्रा में अशांति होगी। वासनाएं जीव को झकझोरती हैं। वासना के कारण ही तो जीव उद्वेगित होकर भटकता है। बड़े-बड़े धनपतियों, पदाधिकारियों एवं स्वामियों को कौन नींद नहीं लेने देता है? वह यही वासनाओं का उद्वेग ही है। जिसकी वासनाएं शांत हो गयी हैं वह जीवन में धन्य हो गया है।

इंद्रियां अपना-अपना भोग चाहती हैं, तो साहेब कहते हैं कि जीव के कल्याण का योग कब पड़ेगा! यदि मनुष्य अपनी इंद्रियों को निरंतर लंपट ही बनाये रखेगा तो उसका कल्याण कहां है! कोई बिरला होगा जो इस बात पर विचार करता होगा और विवेक के पथ में लगता होगा, शेष लोग अंधाधुंध वासना में पड़े हैं। संसारी लोग तो ऐसे ही तमाशे देखने में रात-दिन लगे हैं जिससे विषयों की वासना उत्तरोत्तर बढ़े। लोग वासना घटने वाला काम नहीं करते, किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ने वाला काम करते हैं। जिसमें उनका पतन है उसी में उन्हें हंसी-खुशी लगती है। धनी हो या गरीब, राजा हो या प्रजा, शिक्षित हो या अशिक्षित, विषयों के आमोद-प्रमोद में ही अपनी शक्ति नष्ट कर रहे हैं। इसलिए उनके जीवन में कल्याण का एक लक्षण भी नहीं आता। वे आत्मशांति का एक लक्षण भी पकड़ नहीं पाते।

"नियरे न खोजैं बतावैं दूरि" सुख, शांति, ब्रह्म, परमात्मा, अल्लाह, खुदा, गॉड, निर्वाण, कैवल्य, मोक्ष आदि शब्द कहकर इनके लक्ष्य को लोग अपने निकट अर्थात अपनी आत्मा में, अपने आपा में नहीं खोजते, किन्तु दूर खोजते हैं। आदमी की यह सर्वाधिक भ्रांति है कि परमात्मा या मोक्ष 'स्व' नहीं, किन्तु 'पर' है। परन्तु यदि ये 'पर' हैं तो हमें स्थायी शांति दे नहीं सकते। वस्तुतः व्यक्ति की आत्मा ही परमात्मा है और वासना त्याग देना मोक्ष है। इसलिए परमात्मा और मोक्ष जीव से अलग नहीं, किन्तु

---

1. काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय प्रकृति नहीं, किन्तु मनोविकार हैं। मनोविकार मिटते हैं, प्रकृति नहीं मिटती।

जीव का ही स्वरूप है। परन्तु लोग बताते हैं कि परमात्मा दूर है तथा मोक्ष अलग मिलेगा। साहेब कहते हैं, "चहुँदिश बागुलि रहलि पूरि" अर्थात चारों दिशाओं में भ्रांति का जाल फैला है। संसारी तो संसारी ही हैं, पंडित तथा महात्मा कहलाने वाले लोग भी कितने हैं जो जीव को बाह्याचार में भटका देते हैं। "चहुँदिश बागुलि रहलि पूरि" यह सर्वत्र फैले हुए अन्धविश्वास के सम्बन्ध में मार्मिक वचन है। प्रायः जहां जाकर कल्याण की बात पूछो तो धार्मिक कहलाने वाले आकाश की ओर उंगली उठाते हैं, हृदय की ओर इशारा नहीं करते।

"लच्छ अहेरी एक जीव, ताते पुकारै पीव पीव।" एक जीव पर लाखों शिकारी हैं इसलिए वह आत्मविवेक खोकर ईश्वर-ईश्वर पुकारता रहता है। सोखा, ओझा, नाउत, बैगा, तांत्रिक, पंडे-पुजारी, फलित-ज्योतिषी, भटके हुए पंडित, भटके हुए साधु एवं भटके हुए गुरु इस मनुष्य को ऐसी भ्रांतिपूर्ण राय देते हैं कि यह स्वावलंबन, विवेक तथा आत्मविश्वास छोड़कर हर समय देवी, देवता तथा ईश्वर की दुहाई देता फिरता है। बिरले विवेकी मिलते हैं जो यह बतायें कि तुम स्वयं अपने कर्मों के कर्ता और विधाता हो; तुम स्वयं अपना उद्धार कर सकते हो; संसार से उद्धार होकर तुम्हारा कोई अलग आश्रय नहीं है, किन्तु तुम्हारी आत्मा स्वयं आश्रय है, तुम स्वयं अपने आप में पूर्ण हो।

"अबकी बार जो होय चुकाय, कहहिं कबीर ताकी पूरी दाव।" चुकाव कहते हैं छुटकारा को तथा समाप्त होने को। साहेब कहते हैं कि यदि अबकी बार सारी वासनाएं समाप्त कर दी गयीं तो मानो जीवन की बाजी मार ली गयी। इस जीवन में वही सर्वोच्च पद पर पहुंचा जिसने सारी वासनाओं, तृष्णाओं एवं एषणाओं को समाप्त कर दिया। दुख कहां है यदि वासनाएं समाप्त हो गयीं और सुख कहां है यदि वासनाएं बनी हैं। सद्गुरु कहते हैं कि हे साधक! तुम अबकी बार सावधान हो जाओ और वासनाओं को छोड़कर मुक्त हो जाओ।

इस प्रकार इस पूरे वसंत में हृदय-घर के वासनात्मक झगड़े का वर्णन कर अंत में सद्गुरु ने बताया है कि तुम्हारा लक्ष्य तुमसे दूर नहीं है, किन्तु वासनाओं को त्याग देने के बाद तुम स्वयं कृतार्थ हो।

माया के चक्कर से बचे वह पण्डित है

बसन्त-8

कर पल्लव केवल खेले नारि, पण्डित होय सो लेइ बिचारि॥1॥
कपरा न पहिरे रहै उघारि, निर्जिव से धनि अति रे पियारि। 2॥
उलटी पलटी बाजु तार, काहू मारै काहू उबार॥ 3॥
कहैं कबीर दासन के दास, काहू सुख दै काहु निरास॥ 4॥

शब्दार्थ—कर पल्लव= हाथ की उंगुलियां। नारि= माया, मन का मोह।

कपरा= कपड़ा। निर्जीव= जड़ भौतिक वस्तुएं। धनि= युवती, वधू, माया। बाजु= बजाना। तार= ताल, हाथ पर हाथ मारकर लय उत्पन्न करना।

भावार्थ—कबीर साहेब कहते हैं कि माया ऐसा दावं खेलती है कि अपनी उंगलियों पर संसार के लोगों को नचाती है। जो सत-असत का विवेकी-पंडित होगा वह मेरी बातों पर विचार कर लेगा॥ 1॥ माया स्वयं कभी कपड़ा नहीं पहनती। वह सदैव नंगी रहती है। अर्थात वह निर्लज्ज है अथवा माया स्वयं जीव का आवरण है, उसका अन्य आवरण कुछ नहीं। माया भौतिक वस्तुओं के प्रति ही अधिक प्रेम उत्पन्न करती है॥ 2॥ वह अपनी हथेली उलट-पलटकर बजाती तथा संसार में एक लय उत्पन्न करती है और किसी को मारती है तथा किसी को बचाती है॥ 3॥ कबीर साहेब दासों के दास अर्थात अत्यंत विनम्र बनकर कहते हैं कि यह माया किसी को क्षणिक सुख देती है और किसी को निराश कर देती है। अथवा माया के चक्कर में पड़े सब जीव सुख-दुख तथा आशा-निराशा में पीड़ित रहते हैं॥ 4॥

व्याख्या—यहां भी 'नारि' माया का प्रतीक मात्र है। माया है मनुष्य के मन का मोह। अर्थात विषयों के प्रति जो उसके मन में मोह है वही माया है। जैसे कोई कल-बल करने में प्रवीण स्त्री हो और अपने पति को उंगली पर नचाती हो, वैसे यह माया है। 'उंगुली पर नचाना' एक प्रसिद्ध मुहावरा है। इसका अर्थ होता है इच्छानुसार काम कराना, इशारों पर नचाना, परेशान करना आदि। ऐसी कितनी ही स्त्रियां होती हैं जो अपने पति को अपनी उंगुली पर नचाती हैं। वे जैसा चाहती हैं उनके पति वैसा ही हर समय करने के लिए तैयार रहते हैं। मनुष्य के मन की माया इसी तरह है। मन का मोह माया है। यह माया नारी है। जीव उसका पति है, परन्तु यह माया-नारी जीव-पति को अपनी उंगुलियों पर नचाती है। आदमी हानिकर जानते हुए भी बीड़ी, सिगरेट, पान, तम्बाकू, गांजा, भांग, शराब, कबाब आदि का सेवन करता है। इसी प्रकार गंदी-गंदी आदतें जिन्हें मनुष्य जानता है कि ये मेरा पतनकारी हैं उन्हीं के वश होकर नाचता है। जैसे विवाह करके पत्नी लाने वाला मनुष्य है और उसके वश नाचने वाला वही मनुष्य है, वैसे गंदी आदतें बनाने वाला मनुष्य है तथा उन्हीं के अधीन होकर नाचने वाला मनुष्य है। सद्गुरु कहते हैं कि इस बात पर कोई पंडित ही विचार करेगा कि जीव की ही बनायी माया जीव को ही अपनी उंगुलियों पर नचा रही है। जिस दिन जो विचार करेगा उस दिन से वह अपने आप को माया से अलग करता जायेगा। ऐसा करना ही पांडित्य है।

"कपरा न पहिरे रहै उघारि, निर्जिव से धनि अति रे पियारि।" इस माया के दो लक्षण और हैं, एक तो यह कपड़ा न पहनकर सदा नंगी रहती है और दूसरी बात है यह निर्जिव वस्तुओं से बड़ा प्रेम करती है। माया सदैव नंगी रहती है। अर्थात यह निर्लज्ज है। इसे अपने अंग किसी को समर्पित करने में देरी नहीं तथा उससे हटने में देरी नहीं। देखो, वेश्या कैसी होती है! वह भी मानो कपड़ा नहीं पहनती। इसका

अभिधा अर्थ नहीं, लक्षणा अर्थ है। वैसे वेश्या कपड़ा पहनती है, परन्तु वह किसी के भी सामने सदैव निर्वस्त्र होने के लिए तैयार रहती है। भीड़ में लोग उससे मजाक करते हैं, उसके अंगों को छूते आदि हैं, परन्तु वह इससे लजाती नहीं है। वह किसी को भी अपनी देह बेचने के लिए हर समय तैयार रहती है, अतएव वह मानो सदैव नंगी ही रहती है। यही दशा माया की है। यह सदैव नंगी, निर्लज्ज तथा सर्वगामी है। जो वेश्या की संगत करता है वह अपनी आत्मदृष्टि से तो गिर ही जाता है, समाज की दृष्टि से भी गिर जाता है। इसी प्रकार जो माया से, गलत आदतों तथा मलिन वासनाओं से सम्बन्ध रखता है वह अपनी आत्मस्थिति से तो गिर ही जाता है, बाहर से भी हलका हो जाता है। जैसे मनुष्य के शरीर का आवरण कपड़े होते हैं, कपड़ों का आवरण दूसरा कुछ नहीं होता। कपड़े स्वयं आवरणहीन होते हैं, वैसे जीव का आवरण माया है, परन्तु माया का आवरण कुछ नहीं। अतएव माया सदैव आवरणहीन है, इसलिए वह मानो सदैव नंगी ही रहती है। जब जीव माया को देख लेता है, उसे पहचान लेता है तब वह मानो पंडित हो जाता है और माया निवृत्त हो जाती है। पंडित की दृष्टि से माया गायब हो जाती है। यह भाव सांख्यदर्शन की इस कारिका की याद दिलाता है "चेतन पुरुष यह विचार कर प्रकृति से उदासीन हो जाता है कि मैंने उसे देख लिया; और प्रकृति पुरुष द्वारा देखी जाने के कारण उस पुरुष के लिए व्यापार-शून्य हो जाती है। इस प्रकार शरीर रहते तक प्रकृति-पुरुष का संयोग रहने पर भी प्रकृति उस पुरुष के लिए सृष्टि का कारण नहीं बनती।"[1]

माया का अन्य लक्षण है कि यह निर्जीव वस्तुओं से अधिक प्यार करती है। देखते नहीं हो कि जमीन, मकान, रुपये-पैसे आदि जड़ वस्तुओं के लिए लोग पिता, भाई, गुरु, राजा आदि की हत्या करते हैं। इन्हीं सबके लिए चोरी, डाका, राहजनी, छल-कपट तथा नाना दुराचार किये जाते हैं। इन जड़-वस्तुओं की माया में पड़कर ही लोग चेतन प्राणी के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। जो लोग जितना माया में आसक्त होते हैं वे उतना ही जीव के साथ निश्शीलता तथा जड़पदार्थों के साथ अनुराग करते हैं। सारी कठोरता तथा क्रूरता, माया में आसक्ति का फल है।

"उलटी पलटी बाजु तार, काहू मारै काहू उबार।" जैसे कोई मतवाली स्त्री अपने दोनों हाथों को उलट-पलटकर ताली बजाये और अपने बहुत-से रसिक पुरुषों के बीच में धमाल मचाये और किसी को मारे तथा किसी को उबारे वैसे संसार की माया मानो जीवों के बीच में उलट-पलट कर ताली बजाती है और परिवर्तन की एक लय उत्पन्न करती है और किसी को मारती है तथा किसी को बचाती है। माया के अनेक रूप हैं। मन का मोह माया है, यह ऊपर कहा गया है। यहां माया संसार की

---

1. दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य॥ सांख्यकारिका, 66॥

परिवर्तनशीलता है। इस परिवर्तनशील संसार में एक काल में कोई मरता है तथा कोई बचता है, परन्तु जो अभी बचता है वह आगे नहीं रह जाता।

"कहैं कबीर दासन के दास, काहू सुख दै काहु निरास।" यहां कबीर साहेब अपने आप को दासों का दास बताते हैं। यह उनकी अत्यन्त उदारता है। कबीर साहेब उनके सामने उग्र बन जाते हैं जो धर्म, ईश्वर तथा मोक्ष के नाम पर लोगों को मूर्ख बनाते हैं, परन्तु वे अपने आप में अत्यन्त विनम्र हैं। "दादा भाई बाप कै लेखों, चरणन होइहौं बन्दा।"[1] कहने वाले कबीर साहेब यहां भी अपने आप को 'दासों का दास' बताते हैं।

साहेब कहते हैं कि यह माया किसी को सुख देती है और किसी को निराश करती है। यह प्रक्रिया सब जीवों पर घूम-घूम कर आती रहती है। अर्थात माया के चक्कर में पड़े सब जीव सुख-दुख, आशा-निराशा के रहंट-चक्र में घूमते रहते हैं, वे चाहे धनी हों या निर्धन, राजा हों या रंक, शिक्षित हों या अशिक्षित, सब आशा-निराशा के झमेले में पड़े फूलते-पचकते रहते हैं।

इस प्रकार इस वसंत में 'नारी' माया का प्रतीक है। नर-नारी में कही जाने वाली नारी को यहां नारी नहीं कहा गया है, किन्तु नर और नारी दोनों के मन में रहने वाली आसक्ति तथा गलत आदतें माया है और यहां यही नारी है, जिसके चक्कर में पड़े समस्त नर-नारी दुखी हैं। इसलिए सबको माया का त्याग करना चाहिए। अर्थात मन के मोह का त्याग करना चाहिए।

देहाभिमान छोड़कर आत्माराम का भजन करो

बसन्त-9

ऐसो दुर्लभ जात शरीर, राम नाम भजु लागू तीर॥ 1॥
गये बेनु बलि गये कंश, दुर्योधन को बूड़ो बंश॥ 2॥
पृथु गये पृथिवी के राव, त्रिविक्रम गये रहे न काव॥ 3॥
छौ चकवै मण्डली के झारि, अजहूँ हो नर देखु बिचारि॥ 4॥
हनुमत कश्यप जनक बालि, ई सब छेंकल यम के द्वारि॥ 5॥
गोपीचन्द भल कीन्ह योग, जस रावण मार्‌यो करत भोग॥ 6॥
ऐसी जात देखि नर सबहिं जान, कहहिं कबीर भजु राम नाम॥ 7॥

शब्दार्थ—त्रिविक्रम=तीन डग (विष्णु के); विष्णु, वामन। छौ चकवै=छह चक्रवर्ती। मण्डली=समूह, छोटे-छोटे राजा मांडलिक कहलाते हैं और बारह राजाओं का अधिपति मंडलीक कहलाता है।

---

1. साखी 322 ।

भावार्थ—हे मनुष्य! ऐसे दुर्लभ शरीर का समय बीता जा रहा है, अतएव अविनाशी राम का भजन करो और संसार-सागर से पार लगो॥ 1॥ यहां से थोड़े दिनों में सब चले जाते हैं। देखो वेन, बलि तथा कंस जैसे बलवान राजा चले गये। दुर्योधन जैसे प्रतापी राजा का वंश डूब गया॥ 2॥ पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट पृथु चले गये और बलि को छलने वाले वामन भी चले गये। यहां कोई भी नित्य रहने नहीं पाता॥ 3॥ हे मनुष्य! आज भी विचारकर देखो, मांडलिक राजाओं के मंडलीक छह चक्रवर्ती सब बाल-बच्चे सहित संसार से चले गये॥ 4॥ यहां तक कि हनुमान, कश्यप, जनक तथा वाली, ये सब भी मृत्यु के द्वारा घेर लिये गये॥ 5॥ गोपीचंद उत्तम योग करते हुए चले गये, उनसे विपरीत रावण भोग करते हुए चले गये॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि इस प्रकार सबकी जान जाती हुई देखी जाती है। इसलिए माया का अहंकार एवं मोह छोड़कर अविनाशी राम का भजन करो॥ 7॥

व्याख्या—मानव शरीर दुर्लभ है। दुर्लभ उसे कहते हैं जिसका प्राप्त होना कठिन हो। देखो, संसार में नाना खानियों में असंख्यात जीव हैं, परन्तु मनुष्य बहुत थोड़े हैं। मानव-शरीर में ही विवेक उत्पन्न होता है। यहीं से भवबंधनों के नाश के उपाय किये जा सकते हैं। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि विवेकियों ने राम ऐसा नाम जिस तत्त्व का रखा है उसका स्मरण करो; क्योंकि वह अविनाशी है। तुम जिस माया का रात-दिन स्मरण करते हो वह नाशवान है। इसलिए उसके स्मरण में, उसके मोह में तुम्हारा पतन है। तुम संसार के राग में पड़कर ही भवधारा में बहते हो। परन्तु यदि तुम अविनाशी राम का भजन करो जो तुम्हारा स्वरूप ही है तो संसार-सागर से उद्धार हो जाये। तुम काम में लगे हो इसलिए राम का स्मरण छुटा हुआ है, परन्तु यदि राम में लग जाओ तो काम छूट जायेगा। काम कीचड़ है, राम स्वच्छ चेतन है। काम मलिनता है, राम परम पवित्र है। काम जगतरूप है, परन्तु राम निजस्वरूप है। अतएव कबीर साहेब कहते हैं कि काम-कीचड़ से निकलकर अविनाशी निजस्वरूप राम का भजन करो।

इस संसार में बड़े-बड़े नाम वाले आये, परन्तु थोड़े दिनों में सब अपने नौबत-नगाड़े बजवाकर यहां से कूच कर गये। जवानी, प्रभुता, पद, अधिकार, धन-दौलत थोड़े दिनों की लालिमा है। इनके आकर लौट जाने में देरी नहीं लगती। जो इनके अहंकार एवं मोह में डूबा है वह वज्र मूढ़ है। संसार की चीजें तो आत्मकल्याण और लोककल्याण करने के साधन मात्र हैं। इनका अहंकार करना भूल है। बिजली की चमक, बादल की छाया और संसार के ऐश्वर्य एक समान क्षणभंगुर हैं। हम मोह-मूढ़ बने इन्हीं में लिपटे रहते हैं। इतना ही नहीं, इनके लिए नामालूम क्या-क्या पाप करते हैं। कबीर देव कहते हैं कि संसार की क्षणिक माया का मोह छोड़ो और कभी न बिछुड़ने वाले अपने आत्माराम का भजन करो। जो क्षणिक संसार का मोह छोड़ देता है और अविनाशी आत्माराम में रमण करता है वह संसार-सागर से तर जाता है।

वेन तथा पृथु

राजा अंग तथा रानी सुनीथा से एक पुत्र पैदा हुआ उसका नाम वेन था। वेन दुष्ट था। वह खेलते समय बच्चों को पीड़ा देता था तथा मूक पशुओं को बाण से व्यर्थ में मार देता। राजा अंग ने उसे बहुत समझाया परन्तु उन्हें सफलता न मिली। उन्होंने सोचा कि कुपुत्र की अपेक्षा निर्वंश रहना अच्छा था। परन्तु कुछ क्षण में सोचा कि मुझे कुपूत मिला तो अच्छा ही है। मेरा मन संसार से विरक्त हो रहा है। एक रात राजा अंग सबको छोड़कर विरक्त हो वन में चले गये। प्रजा, मंत्री तथा पुरोहितों ने उन्हें उसी प्रकार वन में खोजा जैसे योग के यथार्थ मर्म को न जानने वाले लोग अपने हृदय में छिपे हुए परम तत्त्व को बाहर खोजते हैं।[1] अन्ततः वे राजा को नहीं पाये।

मंत्रियों की सम्मति न होने पर भी पुरोहितों ने राजकुमार वेन को इसलिए राजगद्दी पर बैठा दिया कि प्रजा में अराजकता न फैल जाये; परन्तु वेन राजगद्दी पर बैठकर और उन्मादी हो गया। वेन द्वारा उत्तरोत्तर प्रजा को पीड़ा मिलने लगी। अतः ब्राह्मणों ने उसकी हत्या कर दी। जब राजा न रहने से पुनः प्रजा में अव्यवस्था फैलने लगी तब ब्राह्मणों ने वेन के पुत्र पृथु को राजगद्दी पर बैठाया जो धर्मात्मा था।

बीच में पंडितों ने काल्पनिक बातें जोड़ी हैं। वह यह कि वेन को कोई संतान न थी। उसे ब्राह्मणों ने मार दिया। उसकी लाश पड़ी थी। ब्राह्मणों ने उसके जंघे को मथा तो उससे एक बालक निकला जो काला था। उसे ब्राह्मणों ने कहा 'निषिद' (बैठ जा)[2] इसलिए उसका नाम निषाद कहलाया, फिर तो उसी से निषाद–जाति ही बन गयी। फिर ब्राह्मणों ने वेन की भुजाओं को मथा तो उनसे एक स्त्री तथा एक पुरुष पैदा हुए।[3] स्त्री का नाम अर्चि तथा पुरुष का नाम पृथु हुआ। पृथु धर्मवान थे।

पृथु जब राजगद्दी पर बैठे, तब प्रजा में भुखमरी थी। राजा ने पृथ्वी से अन्न देने के लिए कहा। पृथ्वी ने उनकी बातों पार ध्यान नहीं दिया। पृथु ने कुपित होकर धन्वा–बाण सम्हाला। पृथ्वी गौ बनकर भागी। परन्तु कहीं शरण न पाकर पृथु की शरण ही में गयी। तब पृथु ने स्वयंभुव मनु को बछड़ा बनाकर पृथ्वीरूपी गौ से अन्न तथा औषधियों आदि को दुहा। राजा पृथु ने आगे चलकर सौ अश्वमेध यज्ञ किया। पीछे से उन्होंने तप किया और संसार से चले गये।[4] पृथ्वी का गौ बनना तथा पृथु का उसे दुहना एक प्रतीकात्मक कथन है। इसका मतलब यह है कि पृथु ने कृषि–विज्ञान द्वारा खेती की उन्नति की।

बलि

---

1. यथा निगूढ़ं पुरुषं कुयोगिनः । (भागवत 4/13/48)
2. भागवत, 4/14/45 ।
3. भागवत, 4/15/1-2 ।
4. वही, 4/15-23 ।

राजा बलि के पिता का नाम विरोचन तथा पितामह का नाम प्रह्लाद था। ये दान करने में प्रसिद्ध थे। विष्णु ने छलकर इनकी सरलता का दुरुपयोग किया और वामन रूप धारणकर इनका राज्य छीन लिया था।

कंस

कंस मथुरा के राजा उग्रसेन का क्षेत्रज पुत्र था। इसने मगधराज जरासंध की अस्ति तथा प्राप्ति नाम की दो कन्याओं का पाणिग्रहण किया था। इसने जरासंध की सहायता लेकर अपने पिता उग्रसेन को राजगद्दी से हटाकर उसे कारावास में डाल दिया था और यह स्वयं राजगद्दी पर बैठ गया था। यह श्री कृष्ण के क्रांतिकारी स्वभाव से डरकर उनसे शत्रुता रखता था। अंततः कृष्ण ने इसे मार डाला।

त्रिविक्रम

'त्रि' कहते हैं तीन को तथा 'विक्रम' कहते हैं कदम, डग एवं पग को। इसका रूढ़ अर्थ विष्णु है। अर्थात त्रिविक्रम वह है जिस विष्णु ने अपने तीन पग से बलि का सारा राज्य नाप लिया था। विष्णु ने अपने बड़े भाई इंद्र के संतोष के लिए बलि के साथ छलकर उनसे तीन पग जमीन मांगी और तीन पग में उनका सारा राज्य नाप लिया। तीन पग में पूरे राज्य को नाप लेने की बात आलंकारिक है। सार इतना ही है कि जिस वामन एवं विष्णु ने बलि के साथ छल कर उनका राज्य छीन लिया था वे भी उसे छोड़कर चले गये।

दुर्योधन, हनुमान, जनक, वाली

दुर्योधन धृतराष्ट्र का पुत्र था जो बहुत बड़ा योद्धा, सम्राट तथा अभिमानी था। हनुमान महावीर थे, जिन्होंने सीताहरण के बाद श्रीराम का काम बनाया था। जनक मिथिला के राजा तथा आत्मज्ञानी पुरुष थे। वाली किष्किंधा का राजा, महान बलवान तथा प्रतापवान था, परन्तु ये सब संसार से चले गये।

कश्यप

कश्यप[1] बहुत महत्त्वपूर्ण नाम है। कश्यप नाम के ऋग्वेद के ऋषि भी हैं; ऐतरेय ब्राह्मण में कश्यप पुरोहित हैं। शतपथ ब्राह्मण में कश्यप प्रजापति का नाम है। महाभारत तथा पुराणों के अनुसार ब्रह्मा के छह मानस-पुत्रों में से एक 'मरीच' थे जिन्होंने अपनी इच्छा से कश्यप नामक पुत्र पैदा किया। कश्यप ने दक्षप्रजापति की सत्तरह (17) पुत्रियों के साथ अपना विवाह किया। उन 17 पत्नियों से इस प्रकार सृष्टि हुई—

1. अदिति से आदित्य (देवता)
2. दिति से दैत्य
3. दनु ने दानव

---

1. कश्यप—हिन्दू धर्मकोश।

4. काष्ठा से अश्वादि
5. अनिष्टा से गंधर्व
6. सुरसा से राक्षस
7. इला से वृक्ष
8. मुनि से अप्सरागण
9. क्रोधवशा से सर्प
10. सुरभि से गौ और महिष
11. सरमा से श्वापद (हिंस्र पशु)
12. ताम्रा से श्येन-गृधादि
13. तिमि से यादोगण (जल जन्तु)
14. विनता से गरुड और वरुण
15. कद्रू से नाग
16. पतंगी से पतंग
17. यामिनी से सलभ

मार्कंडेय पुराण के अनुसार कश्यप की तेरह पत्नियां हैं। उनके नाम ये हैं— 1. दिति, 2. अदिति, 3. दनु, 4. विनता, 5. खसा, 6. कद्रु, 7. मुनि, 8. क्रोधा, 9. रिष्टा, 10. इरा, 11. ताम्रा, 12. इला और 13. प्रधा।

कश्यप एक गोत्र भी है जो बहुत व्यापक है। जिस व्यक्ति का कोई गोत्र नहीं मिलता उसका गोत्र कश्यप मान लिया जाता है, क्योंकि कश्यप से ही सबकी उत्पत्ति मानी गयी है।

कश्यप की 17 या 13 पत्नियों से मनुष्य ही नहीं, पशु, कीड़े, सांप-गोजर भी पैदा हुए यह निरी कल्पना है। सद्गुरु के कथन का तो मतलब यह है कि संसार में बड़े-बड़े नामधारी हुए और वे रह नहीं गये। इस संसार में वह सफल नहीं है जिसने केवल माया का संग्रह कर लिया है। सफल तो वह है जो संसार की आसक्ति का त्यागकर आत्माराम का भजन करता है।

भर्तृहरि के भांजे गोपीचन्द एक राजकुमार थे। वे विरक्त होकर गोरखपंथ में दीक्षित हो गये थे। वे योग में प्रवीण थे। इसके विरुद्ध प्रतापवान, बलवान एवं विद्वान सम्राट रावण भोग में प्रवीण था। साहेब कहते हैं कि रावण भोग करते मारा गया। यहां तक, भोग-कामना के वशीभूत हो परायी स्त्री का हरण किया और उसके फल में मारा गया। साहेब यहां गोपीचन्द तथा रावण का विरुद्ध उदाहरण देते हैं कि एक गोपीचन्द थे जिन्होंने राजपाट छोड़कर अच्छा योग किया और दूसरा रावण था जो विद्वान तथा प्रतापवान होकर भोगों के चक्कर में मारा गया। जीवन उसी का धन्य है जो भोगों से हटकर योग में लगता है, तथा सांसारिक कामनाओं से हटकर आत्माराम

में लगता है।

अहंकार छोड़ो तथा आत्माराम के भजन में लगो

बसन्त-10

सबहीं मद माते कोई न जाग, संगहि चोर घर मूसन लाग॥ 1॥
योगी माते योग ध्यान, पण्डित माते पढ़ि पुरान॥ 2॥
तपसी माते तप के भेव, संन्यासी माते कर हंमेव॥ 3॥
मोलना माते पढ़ि मुसाफ, काजी माते दै निसाफ॥ 4॥
संसारी माते माया के धार, राजा माते करि हंकार॥ 5॥
माते शुकदेव उद्धव अक्रूर, हनुमत माते लै लंगूर॥ 6॥
शिव माते हरि चरण सेव, कलि माते नामा जयदेव॥ 7॥
सत्य सत्य कहैं सुमृति वेद, जस रावण मारेउ घर के भेद॥ 8॥
चंचल मन के अधम काम, कहिं कबीर भजु राम नाम॥ 9॥

शब्दार्थ—मद= नशा, अहंकार। जाग= सावधान, होश-हवास। चोर= अहंकार, वासना। मूसन= चुराना। भेव= भेद, रहस्य। हंमेव= अहंकार, अहं ब्रह्मास्मि। मोलना= मौलवी। मुसाफ= कुरान शरीफ। निसाफ= इंसाफ, न्याय। धार= धारा, लहर। नामा= नामदेव। घर के भेद= घर की फूट।

भावार्थ—सब किसी-न-किसी प्रकार की मदिरा पीकर नशा में चूर हैं। कोई सावधान नहीं हो रहा है। उनके साथ ही में अहंकार-कामनारूपी चोर लगे हुए हैं जो उनके शांति-धन को चुरा रहे हैं॥ 1॥ योगी लोग योग तथा ध्यान के अहंकार में चूर हैं। पंडित लोग पुराण पढ़कर उसके अहंकार में डूबे हैं॥ 2॥ तपस्वी लोग तपस्या के मद में मतवाले हैं। संन्यासी लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' की रट लगाकर अहंकार में डूबे हैं॥ 3॥ मौलाना लोग कुरान-शरीफ पढ़कर इस अहंकार में डूबे हैं कि हम तो खुदाई किताब के पाठक हैं। काजी लोग इसलाम के न्याय सुनाकर घमंड में चूर हैं कि यह ईश्वरीय कानून है॥ 4॥ संसारी लोग माया की लहर में डूबे हैं। राजा लोग विश्व अभिमान में बेभान हैं॥ 5॥ ज्ञान के नशे में शुकदेव, उद्धव तथा अक्रूर डूबे हैं। हनुमान अपनी पूंछ के घमंड में डूबे हैं॥ 6॥ शिवजी विष्णु के चरणों की सेवा कर मतवाले हुए और कलियुग में भक्ति के जोश में नामदेव तथा जयदेव मतवाले बने॥ 7॥ वेदों और धर्मशास्त्रों में यह बात पूरी-की-पूरी सही कही गयी है कि आदमी अपने ही अन्दर में उत्पन्न हुए अहंकार-कामना की आग में जलता है। जैसे रावण अपने घर की फूट से मारा गया वैसे हर व्यक्ति अपने ही भीतर के अहंकार-कामना रूपी हमलावरों से मारा जाता है॥ 8॥ चंचल मन के सभी काम नीच होते हैं, इसलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं कि सब प्रकार अहंकार-कामना का परित्याग कर

अविनाशी आत्माराम का भजन करो॥ 9॥

व्याख्या—किन्हीं भी प्राणी, पदार्थ, पद, भाव, क्रिया आदि का सम्बन्ध होने पर यदि सावधान न रहे तो उनमें अहंकार जगता है। अहंकार के साथ कामना छिपी रहती है। ये अहंकार-कामना मनुष्य के भीतर रहे हुए चोर हैं जो उसके ज्ञान एवं शांति-धन को नित्य चुराते रहते हैं। साहेब कहते हैं कि लोग किसी-न-किसी प्रकार की मदिरा पीकर मारते हैं। सबके हृदय-घर में चोरी हो रही है, परन्तु लोगों को इसका पता नहीं है।

"योगी माते योग ध्यान" वैसे योग का अर्थ है चित्तवृत्ति का निरोध, जिससे चेतन जड़वर्ग से अलग होकर अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है। इसमें किसी प्रकार के अहंकार की गुंजाइश नहीं है, परन्तु अधिकतम योगी योग के बाह्याचार में उलझ जाते हैं, जैसे नेति, धोति, कपालि, कुंजल आदि षटकर्म करना, षटचक्र वेधन, ज्योति-दर्शन, नाद-श्रवण, आसन, मुद्रा दिखाना, ऋद्धि-सिद्धि तथा चमत्कार का दिखावा करना आदि। वे इन्हीं सबका अहंकार लिये घूमते हैं। जो योग-मार्ग सारे अहंकारों को दूरकर निजस्वरूप में स्थिर होने के लिए है, उसे ही अहंकार का कारण बना लेना अपनी ही असावधानी है।

"पण्डित माते पढ़ि पुरान" पंडित लोग पुराणों को पढ़कर मतवाले हैं। पुराणों में थोड़ा-सा सत्य लेकर शेष झूठी कथाओं की भरमार है। प्रायः हर कथा में यही दर्शाने की चेष्टा की गयी है कि ब्राह्मणों को जितना अधिक दान दिया जा सके उतना अच्छा है। ब्राह्मणनामधारी सबसे बड़ा है वह चाहे जैसा हो। नैतिकता पर जोर कम, किन्तु देवी, देवता, हरि तथा पूजा-पाठ एवं तीर्थ-नदी से सारे पापों का नाश एवं मोक्ष माना गया है। पंडितों ने पुराणों को पढ़कर उसके सारे वर्णन को सत्य मान लिया और वे उसी में मस्त हो गये।

"तपसी माते तप के भेव" तपस्वी लोगों ने तपस्या के गूढ़ रहस्यों को खोजा। वे जलशयन, अग्नितापन, खुले आकाश में निवास, घोर उपवास तथा और भी अनेक ऊलजलूल काया-कष्ट की विधियों की गवेषणा कर उनमें अपने शरीर को तपाने लगे। वे अपने आगे दूसरों को तुच्छ समझने लगे। वे काया को अधिक संताप देना ही कल्याण का रास्ता समझने लगे और उसी के क्रियाकलाप में डूब गये।

"संन्यासी माते कर हंमेव" संन्यासी लोग अहंकार में मतवाले हैं। उन्होंने समझा कि सच्चा ज्ञान केवल हमारे पास है। 'अहम् ब्रह्मास्मि' अर्थात मैं ब्रह्म हूं, मैं चेतन हूं, यह भाव सारे अहंकारों के विसर्जन का साधन है, परन्तु उन्होंने इसे अहंकार का साधन बना लिया। उन्होंने मान लिया कि हम सारे विश्व के कर्ता-धर्ता हैं जबकि वे अपने शरीर में पैदा हुई एक फुंसी को चुटकी बजाते नहीं अच्छा कर सकते। वे अपने पीठ-पीछे की बात नहीं जानते, किन्तु अहंकार करने लगे कि मैं सर्वत्र व्याप्त विश्व का नियन्ता हूं। वे प्रलाप करने लगे कि मैं ही सूरज हूं, मैं ही चांद हूं और मैं ही अनंत

विश्व-ब्रह्मांड हूं। कितने संन्यासी तो अहंकार में इतना चूर रहते हैं कि अभिवादन करने पर प्रत्याभिवादन नहीं कर सकते। यहां तक कि वे आशीर्वाद देने में अपनी हेठाई समझते हैं। उनके ख्याल से वे ठहरे ब्रह्म, और उनके अलावा कोई या कुछ है ही नहीं, फिर वे कुछ क्या मानें! अतः वे अपने आप को ही सर्वोच्च मान लिये।

"मोलना माते पढ़ि मुसाफ" मौलवी साहब कुरानशरीफ को पढ़कर मतवाले हुए। उन्होंने माना कि ईश्वर एक है और वह वही है जो मुहम्मद, कुरान तथा इसलाम को भेजा है। भले उसने पहले दूसरे पैगंबर तथा किताबें भेजी हों, परन्तु अब तो उसने मुहम्मद को खत्मा-नबी बनाकर भेजा है। अब इसके आगे न कोई दूसरा नबी आयेगा, न किताब आयेगा और न मजहब आयेगा। अतएव अनंत ब्रह्मांड तथा महाप्रलय तक के लिए बस एक ही ईश्वरीय धर्मग्रन्थ है कुरान, एक ही पैगंबर है मुहम्मद तथा एक ही रास्ता है इसलाम। इसलिए जो कुरान शरीफ पढ़ता है वही राहेखुदा है, बाकी लोग राहेजुदा एवं राहेदोजख हैं। लोग ऐसा मजहबी कुआं के मेढक बनते हैं कि उससे अधिक उन्हें कुछ पता ही नहीं होता और वे अपने कुएं में पड़े मस्त रहते हैं।

"काजी माते दै निसाफ" काजी लोग इसलाम मजहब के कानून-कायदे के अनुसार न्याय सुनाकर उसी में मतवाले हो गये। उन्हें न देश की परवाह है और न काल की। ईसा की छठी शताब्दी में अर्थात हजरत मुहम्मद के काल में अरब वालों के लिए जो कुछ न्याय था वही सब आज भी सारी दुनिया के लिए न्याय बनाने का हठ है। आये दिन संसार के मुसलिम राष्ट्र अपनी प्रजा को बेवकूफ बनाकर उन पर राज्य कायम रखने के लिए इसलाम-शासन की दुहाई देते हैं और समाज के विविध वर्गों पर अत्याचार करते हैं। सबसे दयनीय दशा तो स्त्रियों की बनायी जाती है। शताब्दियों पूर्व किसी देश के कानून संसार भर के सब समय के लिए कानून नहीं हो सकते। परन्तु काजियों को यही गर्व है कि इसलाम के कानून सब देश तथा सब काल के लिए समान हैं।

"संसारी माते माया के धार" संसार की आसक्ति में डूबे हुए संसारी लोग तो माया-मोह की धारा में बहते हुए अपने नशा में मतवाले हैं। उनके ख्याल से जवानी, धन, पद, अधिकार, प्रतिष्ठा सब अजर-अमर हैं। वे इनके लिए पाप-पुण्य सब करने के लिए तैयार हैं। उन्हें वर्षों में शायद एक बार भी न मौत की बात याद आती है और न इन सबके छूटने की। वे सब समय माया के उन्माद में चूर रहते हैं। जैसे आग से घिरा हुआ सांप क्रोध से फनफनाता हुआ ऐंठ-ऐंठ कर जल मरता है वैसे अंततः माया-अहंकारी की दशा होती है।

"राजा माते करि हंकार" राजा लोग अपने विश्व अहंकार में डूबे रहते हैं। इतिहास उठाकर देखो तो राजाओं, सम्राटों एवं चक्रवर्ती नामधारियों में से अनेकों ने जो-जो अत्याचार जनता पर किये हैं, अपने राज्य-विस्तार के लिए जो निरपराधों का खून बहाया है वह अत्यन्त निंदनीय है। अंततः सारे राजे-महाराजे बिजली की तरह

चमककर बुझ गये हैं। जब तक जो सत्ता में रहता है तब तक वह अपने आप को अजर-अमर माने रहता है, परन्तु कुछ दिनों के बाद उसका कोई नामलेवा नहीं रह जाता। असंख्य राजे-महाराजे हो गये, जिन्हें आज कोई जानता तक नहीं। क्या रखा है इस संसार के राज-काज में! परन्तु जो व्यक्ति जब जहां गद्दी पर बैठता है वह समझता है कि मैं अब अजर-अमर हूं और मेरी गद्दी अजर-अमर है।

"माते शुकदेव उद्धव अक्रूर" शुकदेव, उद्धव तथा अक्रूर ज्ञान में मतवाले हो गये। इन सब ज्ञानियों ने पहले तो अपनी आत्मा से देह तथा जगत को अलग बताया और पीछे देह-जगत सब कुछ को आत्मरूप ही बता दिया। ब्रह्मविचार करते-करते ब्रह्मविचार न रहकर जड़-चेतन एकतारूपी अविद्या का स्वरूप उपस्थित हो जाता है। शुकदेव मुनि ने राजा परीक्षित को आत्मज्ञान का सारा उपदेश देने के अंत में कहा— "सर्प अपने विषपूर्ण मुख से जीभ लपलपाते हुए तुम्हारे पैर को काट ले तो इसकी कोई परवाह नहीं करना, क्योंकि तुम शरीर और संसार को अपनी आत्मा से अलग नहीं समझोगे।"[1] यहां पर शुकदेव मुनि ने सारा गुड़ गोबर कर दिया। शरीर और संसार तो जड़ हैं, विकारी हैं तथा आत्मा चेतन और निर्विकार है। दोनों की एकता को अविद्या कहा गया है, फिर यह ज्ञान कैसे हो गया! इस प्रकार ब्रह्मज्ञान के नाम पर शुकदेव, उद्धव, अक्रूर आदि ज्ञानी जड़-चेतन एवं आत्मा-देह की एकता कहकर अध्यात्मक्षेत्र में महाभ्रम फैला दिये हैं। एक बार कहते हैं कि जड़-चेतन अलग-अलग हैं, देह तथा आत्मा सर्वथा भिन्न हैं और बाद में कहते हैं कि देह तथा आत्मा एक है तथा शरीर-संसार सब आत्मा ही है। यह सब ब्रह्मज्ञान के नशा में मतवाला हो जाना ही है।

"हनुमत माते लै लंगूर" हनुमान को अपनी पूंछ का घमंड हुआ। पूंछ तो एक कहावत मात्र है। हनुमान, सुग्रीव, वाली आदि न वानर थे और न उनको पूंछ थीं। यदि यह सब होता तो सुग्रीव तथा वाली की पत्नियों को भी पूंछ होतीं और वे भी वानरी के शक्ल में होतीं। जो मनुष्यों से बात करता है, कपड़ा पहनता है, राज-काज करता है, दूसरे मनुष्यों तथा राजाओं से प्रेम-वैर करता है, वह वानर कैसे हो सकता है! कबीर साहेब ने यहां रामायण के अनुसार कहा है, क्योंकि रामायण में हनुमान जी को पूंछ वाले वानर के रूप में चित्रित किया गया है।

विविध रामायणों में यह चित्रित किया गया है कि हनुमान को गर्व हो गया था, इसलिए उनको समय-समय से मुंह की खानी पड़ी। बलरामदास की रामायण में लिखा है कि जब लंकाविजय के बाद हनुमान श्रीराम के साथ भरद्वाज आश्रम में आये तब उनको यह बड़ा गर्व था कि मैंने राम का बड़ा महान कार्य किया है। श्रीराम ने

---

1. दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः ।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ॥ भागवत 12/5/12 ॥

हनुमान को भरद्वाज आश्रम के पास एक वन में किसी काम से भेजा, तो हनुमान अष्टक नामक एक असुर से परास्त हुए।[1] राम कियेन (अध्याय 23) के अनुसार जब हनुमान लंका गये तो वे लंका के पार नारद के आश्रम में पहुंच गये और उन्होंने नारद से एक रात रहने के लिए जगह मांगी। नारद ने एक छोटी कुटी बतायी कि इसमें रह लो, तो हनुमान ने अपने गर्व में अपना शरीर बढ़ाया। नारद ने अपने योगबल से जोरों का हिमपात कराया जिससे हनुमान सिमिट गये और उनका गर्व चूर हो गया। दूसरे दिन हनुमान एक सरोवर में नहाने गये तो नारद की प्रेरणा से एक जोंक हनुमान की ढोंढ़ी में लग गयी। हनुमान उसे हटा न सके। जब उन्होंने नारद से क्षमा मांगी तब वह गिर गयी। तोरवे रामायण के अनुसार जब हनुमान लंका-यात्रा में थे तब वे तृणविंदु मुनि से मिले। मुनि ने हनुमान की इस दृष्टि से परीक्षा ली कि क्या यह वानर ऐसा काम कर सकेगा! मुनि पद्मासन लगाकर बैठ गये और उन्होंने हनुमान से कहा कि मुझे उठाओ। हनुमान अपनी सारी शक्ति लगाने के बाद उन्हें उठा सके थे। इसलिए हनुमान का गर्व दूर हुआ।[2] परवर्ती रामकथाओं में कई जगह यह बात आयी कि हनुमान को गर्व हो गया था और इसलिए उनके गर्व का अन्त हुआ।

"शिव माते हरि चरण सेव" कहा जाता है कि शिवजी विष्णु की सेवा करके उसमें मतवाले हो गये। उन्होंने समझ लिया कि विष्णु की सेवा ही पर्याप्त है। और "कलि माते नामा जयदेव" कलियुग में नामदेव तथा जयदेव भक्तिरस में मतवाले हुए। नामदेव[3] ने महाराष्ट्र में रामोपासना चलायी तथा जयदेव[4] ने बंगाल में कृष्णोपासना चलायी। जयदेव ने उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश में भी अपना अभियान चलाया। इस प्रकार शिव, नामदेव तथा जयदेव विष्णु, राम एवं कृष्ण की दैहिक उपासना में ही मतवाले बनकर शुद्ध चेतनस्वरूप की स्थिति से दूर बने रह गये।

"सत्य सत्य कहैं सुमृति वेद" वेद और धर्मशास्त्र यह सत्य कहते हैं कि आदमी अपने भीतर अहंकार-कामादि दोषों से ही मारा जाता है। यहां पर कबीर साहेब ने वेद और स्मृति नाम लेकर और उन्हें सम्बन्धित विषय में सत्य का प्रतिपादक बताकर उनका आदर किया है। ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व—इन ग्रंथों को वेद कहा जाता है तथा स्मृति का अर्थ है धर्मशास्त्र, जिसमें श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और महाभारत, पुराण एवं मनु आदि समस्त स्मृतियां हैं। कबीर साहेब ने इनके गलत पक्षों को लेकर इनकी आलोचनाएं भी की हैं। परन्तु वे संत थे। उनको किसी से द्वेष नहीं था। वे सबकी अच्छाइयों को स्वीकारते थे। इसलिए वे यहां वेद और स्मृतियों के नाम लेकर

---

1. रामकथा, अनुच्छेद 608।
2. रामकथा, अनुच्छेद 531।
3. ईसा की 14वीं शताब्दी।
4. ईसा की 14वीं शताब्दी।

कहते हैं कि वे यह सही कहते हैं कि आदमी अपनी ही आग से जलता है। यहां का सरल अर्थ यह है कि समस्त वेद-शास्त्र एवं संसार के सारे धर्मशास्त्र यह ठीक ही कहते हैं कि आदमी अपने भीतर के भेद से ही मारा जाता है। जब आदमी में काम, क्रोध, अहंकार आदि उदय होते हैं, तब वह उन अपने विकारों से ही पतित होता है।

"जस रावण मारेउ घर के भेद" रावण की प्रसिद्ध कहानी है कि वह अपने घर में फूट पड़ने से मारा गया। जब विभीषण ने रावण से अलग होकर उसका सारा भेद राम को बताया तब रावण अपने शत्रु द्वारा मारा गया। लोकोक्ति है "घर का भेदिया लंका ढावै।" यही दशा जीव की है। जीव का मन जब उससे विचलित होकर अहंकारादि विकारों से मिल जाता है तब जीव माया में पतित होता है।

"चंचल मन के अधम काम" इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि चंचल मन के काम ही नीच होते हैं। वह जीव से फूटकर विषयों में मिलता है। जब मन आत्मा से विमुख तथा विषयों के अभिमुख होता है तभी तो व्यक्ति का पतन होता है। यही मन की चंचलता है। यही उसकी नीचता है। अतएव सद्गुरु कहते हैं "कहहिं कबीर भजु राम नाम" राम ऐसा नाम जिस तत्त्व का है उस अविनाशी का भजन, चिंतन एवं स्मरण करो। साधक जब राम का चिंतन करेगा तब स्वाभाविक ही विषयचिंतन नहीं होंगे। राम-भजन एवं राम-चिंतन से विषय-चिंतन समाप्त हो जाते हैं। आत्माराम के चिंतन से ही मन की चंचलता एवं विषय-विकार नष्ट होंगे।

काशी-महिमा के विषय में शिवजी से प्रश्न

बसन्त-11

शिवकाशी कैसी भई तुम्हारि, अजहूँ हो शिव लेह विचारि॥1॥
चोवा चन्दन अगर पान, घर घर सुमृति होत पुरान॥ 2॥
बहु विधि भवने लागू भोग, ऐसो नग्र कोलाहल करत लोग॥ 3॥
बहु विधि परजा लोग तोर, तेहि कारण चित ढीठ मोर॥ 4॥
हमरे बलकवा के इहै ज्ञान, तोहरा को समुझावै आन॥ 5॥
जो जेहि मन से रहल आय, जिव का मरण कहु कहाँ समाय॥ 6॥
ताकर जो कछु होय अकाज, ताहि दोष नहिं साहेब लाज॥ 7॥
हर हर्षित सो कहल भेव, जहाँ हम तहाँ दुसरा न केव॥ 8॥
दिना चारि मन धरहू धीर, जस देखैं तस कहहिं कबीर॥ 9॥

शब्दार्थ—चोवा= चोआ, कई गंध द्रव्यों को मिलाकर बनाया जाने वाला एक सुगंधित द्रव्य। अगर=एक सुगंधित लकड़ी, धूप, अगरबत्ती। सुमृति= स्मृति। नग्र= नगर, काशी शहर। परजा= शिष्य, शाखा। ढीठ= धृष्ट, बेअदब, संकोचरहित। अकाज= अकल्याण। हर= शिव, ज्ञानी। भेव= भेद, रहस्य। केव= कोई।

भावार्थ—हे शिव जी! तुम्हारी काशी कैसी हो गयी है? आज भी समय है, इस बात पर विचार कर लो॥ 1॥ चोवा, चंदन, अगर, पान आदि से तुम्हारी पूजा होती है, और घर-घर में स्मृतियों, धर्मशास्त्रों एवं पुराणों की कथा होती है॥ 2॥ घर-घर में विविध व्यंजनों के द्वारा तुम्हें भोग अर्पित किया जाता है। लोग शहर में हर-हर बम-बम एवं महादेव कहकर हल्ला करते हैं और तुम्हें पुकारते हैं॥ 3॥ यहां तुम्हारे भक्तों की भीड़ है, इसलिए तुमसे पूछने में मेरा मन भी निस्संकोच को गया है॥ 4॥ हम तुम्हारे सामने बालक हैं, अतएव हमारा ज्ञान थोड़ा है। तुम तो परम ज्ञानी हो, फिर तुम्हें दूसरा कौन समझावे!॥ 5॥ जिसके मन में जैसा आता है काशी की वैसी ही महिमा हांकता है—काशी में मरने से हत्यारा भी मुक्त हो जाता है, दुराचारी भी मुक्त हो जाता है, इत्यादि बातें धर्मग्रंथों में लिख रखी हैं। हे शिव जी! मैं तुमसे पूछता हूं कि ये नाना प्रकार कर्म करने वाले जीव शरीर छोड़कर कहां समायेंगे, कैसी दशा प्राप्त करेंगे, तुम्हीं बताओ!॥ 6॥ ध्यान रहे! तुम्हारी नगरी की महिमा के झांसे में पड़कर यदि जीवों का अकल्याण हुआ तो यह उनका दोष नहीं माना जायेगा। यह दोष स्वयं हुजूर को पड़ेगा॥ 7॥ कबीर साहेब की उक्त बातें सुनकर शिवजी हर्षित होकर कहने लगे—सुनो कबीर! जहां हम हैं वहां दूसरा कोई नहीं है। अर्थात शैव ज्ञानियों ने कहा कि काशी में शिव का निवास है। यहां यमराज नहीं आ सकता, इसलिए यहां कैसे भी कर्म वाले मनुष्य मरें, वे मुक्त ही हैं॥ 8॥ कबीर साहेब ने कहा कि इन मिथ्या महिमाओं के झांसे में पड़कर भले भक्त लोग चार दिन संतोष मान लें, परन्तु अंत में अपने-अपने कर्मों के फल सबको भोगने पड़ेंगे। कबीर तो वही कहते हैं जो देखते हैं, अर्थात जो वास्तविकता है॥ 9॥

व्याख्या—काशी, वाराणसी, अविमुक्त, आनन्दकानन, श्मशान, महाश्मशान आदि नामों से यह नगरी जानी जाती है। यह भारत की अति प्राचीन नगरी है। कम-से-कम तीन हजार वर्षों से इसकी प्रतिष्ठा है। कुछ विद्वान लिखते हैं कि काशी से कौशांबी (इलाहाबाद) तक कुश-घास बहुत थी इसलिए एक का नाम काशी तथा दूसरे का नाम कौशांबी[1] पड़ा। पंडितजन कहते भी हैं कि 'काश' का अर्थ है चमकता हुआ। इस नगरी में सन्तों और विद्वानों की तपस्या और विद्या की चमक थी इसलिए इस नगर का नाम काशी पड़ा। नगर के दक्षिण 'असि' तथा उत्तर 'वरणा' नदी है; इसलिए दोनों के बीच में बसे इस नगर को वाराणसी कहते हैं। इसी का अपभ्रंश बनारस है। यहां पहले बहुत जंगल था, संत-ऋषि रहते थे, इसलिए इसे आनन्दकानन भी कहते हैं। यहां श्मशान था। पुराकाल से यहां मरने से या कम-से-कम यहां अंत्येष्टि करने से मोक्ष की कल्पना थी, इसलिए यहां लोग दूर-दूर से मरने आते थे या

1. कौशांबी प्रयाग से पश्चिम-दक्षिण 50 किलोमीटर पर एक खंडहर के रूप में आज भी यमुना के उत्तरी तट पर विद्यमान है। यह पुराकाल में वत्सदेश (प्रयाग क्षेत्र) की राजधानी थी।

मर जाने के बाद शव जलाने के लिए यहां लाया जाता था, इसलिए यहां महाश्मशान था। आज भी यह सब बातें हैं। इस नगरी का एक नाम अविमुक्त भी है। 'अविमुक्त' का अर्थ 'बद्ध' होता है, परन्तु यहां यह अर्थ नहीं है। यहां अविमुक्त नाम एक महिमापरक अर्थ लेकर है। काशी खंड में लिखा है—"हे मुने! शिव और पार्वती प्रलयकाल में भी काशी का त्याग नहीं करते, इसलिए इस नगरी को अविमुक्त कहा जाता है।"[1] अविमुक्त अर्थात जिससे शिव और पार्वती कभी मुक्त एवं अलग न होते हों।

वैदिक ऋषि लिंग-पूजक नहीं थे। वे ऐसे भी किसी शिव की पूजा नहीं करते थे जो बैल पर बैठता हो, सिर पर गंगा तथा अर्धचंद्र धारण करता हो, राख लगाता हो, जिसके साथ उसकी पत्नी हो। वेदों में रुद्र है, परन्तु वह केवल तूफान का देवता है। लिंगपूजकों को वैदिकों ने 'शिश्नदेवाः' कहकर उनकी निन्दा की है। अतएव ऐतिहासिक अध्येताओं ने निष्कर्ष निकाला है कि भारत के आदिवासी लिंगपूजक थे जो अनार्य थे, अतएव आर्यों के आने के बाद भी काशी में अनार्यों द्वारा लिंग-पूजा होती रही। परन्तु धीरे-धीरे आर्यों ने लिंग-पूजा स्वीकार ली, फिर पीछे से आदिवासियों के लिंग तथा आर्यों के रुद्र का घालमेल कर लिया गया।

काशी पुराकाल से विद्या और साधना की नगरी बनी है। यहां वैदिक ब्राह्मणों का वर्चस्व रहा है। महात्मा बुद्ध ने भी अपना प्रथम उपदेश बनारस के उत्तर एक मृगदाव (वन) में दिया जो आजकल सारनाथ कहलाता है। स्वामी शंकराचार्य ने यहीं आकर अपने प्रचार का केन्द्र बनाया। कबीर साहेब का तो काशी जन्म, कर्म एवं साधना तथा उपदेश की स्थली ही रही। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी यहीं बैठकर रामचरित मानस लिखा। जहां तप, विद्या और ज्ञान का बोलबाला हो उस नगरी को मोक्ष-नगरी कहा जाना स्वाभाविक है। फिर तो महिमा के जोश में चल पड़ा कि काशी मोक्ष-नगरी है। यहां मरकर मुक्ति की कल्पना कर ली गयी। बात तो यहां से शुरू हुई थी कि काशी में विद्वान, तपस्वी एवं ज्ञानी जन रहते हैं। यदि कोई यहां आकर उनसे प्रेरणा ले तथा उनके उपदेश ग्रहण करे तो उसके लिए मोक्ष कार्य सरल हो जायेगा। परन्तु आगे चलकर महिमा के भोलेपन में इस तथ्य पर दृष्टि नहीं रही और यह मान लिया कि काशी में निवास मात्र मोक्ष का कारण है। कुछ उदाहरण लें—

"हे कुरुश्रेष्ठ! तीर्थों का सेवन करने वाला अविमुक्त (काशी) में जाकर और देवदेव महादेव के दर्शन कर ब्रह्महत्या के पाप से छूट जाता है। यदि काशी में ही शरीर छोड़ दे तो वह मुक्त हो जाता है।"[2] वाराणसी मेरा सर्वोत्तम तीर्थस्थल है। सभी

---

1. मुने प्रलयकालेपि नैतत् क्षेत्रं कदाचन ।
   विमुक्तं स्यात् शिवाभ्यां यदविमुक्तं ततो विदुः ॥ (काशी खंड, अध्याय 26, हिन्दू धर्मकोश)
2. अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।

प्राणियों के लिए यह मोक्ष का कारण है।[1] विषयासक्त चित्त धर्म-भक्ति को त्यक्त कर देने वाले लोग भी यदि काशी में मर जाते हैं, तो वे पुनः जन्म नहीं लेते। सहस्रों जन्मों के योग-साधन के उपरांत योग-प्राप्ति होती है; किन्तु काशी में मृत्यु होने से इसी जीवन में परम मोक्ष प्राप्त हो जाता है।[2] पापी, शठ एवं अधार्मिक व्यक्ति भी पापमुक्त हो जाता है, यदि वह अविमुक्त (काशी) में प्रवेश करता है।[3] भोगपराण एवं कामाचारिणी स्त्रियां भी यहां काल में मृत्यु पाने पर मोक्ष पाती हैं।[4] समय से ग्रह एवं नक्षत्र गिर सकते हैं, किन्तु अविमुक्त (काशी) में मरने से कभी भी पतन नहीं हो सकता।[5] दुष्ट प्रकृति वाले पुरुषों या स्त्रियों द्वारा जो भी दुष्टकर्म जान एवं अनजान में किये गये, जब वे अविमुक्त (काशी) में प्रवेश करते हैं तो वे (दुष्टकर्म) भस्म हो जाते हैं।[6] काशी में रहने वाला म्लेच्छ भी भाग्यशाली है, बाहर रहने वाला, चाहे वह दीक्षित (यज्ञ करने वाला) ही क्यों न हो, मुक्ति का भाजन नहीं हो सकता।[7]

कहना न होगा कि उक्त काशी की महिमा की बातें नशे में धुत्त होकर लिखी गयी हैं। इन विद्या के धनियों को इतनी भी अक्ल नहीं थी कि मोक्ष का अर्थ क्या है! वासना-निवृत्ति ही मोक्ष है जो जीवन में सबसे ऊंचा काम है और बड़े त्याग, तप एवं साधना का फल है, परन्तु तीर्थों में मूढ़ जनता से पुजवाने के लिए इन धर्म के धंधेबाजों ने मोक्ष के विषय में भ्रम पैदाकर अक्षम्य अपराध किया है और तीर्थों के नाम पर खूब पाप बढ़ाया है। जब सारे दुष्कर्मों के संस्कार काशी में पहुंचते ही कपूर की तरह उड़ जाते हैं तो पाप से क्यों डरा जाये! जो समझ नहीं रखते वे काशीवासी तो अपने आप में नैतिकता की कोई चिन्ता ही नहीं करेंगे। सभी तीर्थस्थलों के पंडे-पुजारी प्रायः लुटेरे हो गये हैं, क्योंकि वे कुछ भी करें, उनका मोक्ष तो रिज़र्व है।

शिवजी काशीवासी हैं और कबीर साहेब भी ठहरे काशीवासी। मानो दोनों की मुलाकात हो गयी हो। कबीर साहेब हर अन्याय के विरोधी हैं ही। शिवजी की काशी अज्ञान में डूबी है, यह देखकर कबीर साहेब ने शिव से प्रश्न कर दिया हो। संवाद बड़ा मनोहर है। जरा ध्यान दें। वस्तुतः कबीर साहेब ने अपनी कल्पना में शिव को संबोधित करते हुए काशी के अंधविश्वास का परदाफ़ाश किया है।

दर्शनाद् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया॥
प्राणानुत्सृज्य तत्रैव मोक्षं प्राप्नोति मानवः। (महाभारत, वनपर्व 84/79-80)

1. मत्स्य पुराण, 180/47।
2. मत्स्य पुराण, 180/71 तथा 74।
3. मत्स्य पुराण, 183/11; पद्मपुराण, 1/33/38।
4. मत्स्य पुराण, 184/36।
5. मत्स्य पुराण, 185/61। काशी खंड 64/96।
6. नारदीय पुराण, उत्तर, 48/33-34।
7. काशी खंड, 85/15। (उद्धृत धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1345)

साहेब कहते हैं "शिव काशी कैसी भई तुम्हारि, अजहूँ हो शिव लेहु विचारि।" हे शिव जी, तुम्हारी काशी नगरी की दशा कैसी विचित्र हो गयी है! आज भी तो इस बात पर विचार करो। काशी के पंडे-पुजारी तीर्थयात्रियों के साथ कैसा अत्याचार करते हैं! काशी में रहने वाले सब समय मुक्त ही हैं इस मिथ्या धारणा ने काशीवासियों को पाप से निर्भय कर दिया है। काशी के लोग पाप करने से क्यों डरें! जिस शिव को यह कहा जाता है कि वह विश्व का संहारक है, वह अपने भक्तों को सन्मार्ग पर लाने की क्षमता नहीं रखता, यह कितनी बड़ी विडंबना है! साहेब कहते हैं कि हे शिवजी! तुम आज भी इस पर विचार करो और अपने भक्तों का सुधार करो।

काशी में बाह्याचार बहुत बढ़ गया है। ज्ञान उड़ गया, कर्मकांड फैल गया। चोआ, चन्दन, अगर, पान आदि से शिव तथा अन्य देव-मूर्तियों की पूजा हो रही है। स्मृति-पुराणादि भी घर-घर बांचे जा रहे हैं। शिव तथा अन्य देव-मूर्तियों को भोग भी घर-घर लगाया जा रहा है। जिस तरफ देखो काशी में हर-हर, बम-बम महादेव की आवाज सुनाई पड़ती है। भक्तों की तरफ से शिव के नाम पर इतना कोलाहल है और शिव का भक्तों की तरफ कोई ध्यान नहीं है कि वह अपने भक्तों को सद्बुद्धि दें।

'बहु विधि परजा लोग तोर, तेहि कारण चित ढीठ मोर।" साहेब कहते हैं कि हे शिवजी! तुम्हारे भक्तों की बहुत बड़ी भीड़ है, यह देखकर मेरा मन तुमसे बातें पूछने के लिए निस्संकोच हो गया है। भक्तों के कथनानुसार जब तुम हर समय सर्वसमर्थ के रूप में सब जगह विद्यमान हो और काशी में तो विशेष रूप में मौजूद हो तब यहां अंधेरखाता क्यों चलता है!

"हमरे बलकवा के इहै ज्ञान, तोहरा को समुझावै आन।" कबीर साहेब विनम्रतापूर्वक व्यंग्य भरे वचनों में कहते हैं कि हे शिवजी! हम तो बालक ठहरे! हमारी बुद्धि ही कितनी है! बालक का ज्ञान थोड़ा होता है। परन्तु तुम तो बड़े-बूढ़े हो। बहुत बड़े ज्ञानी हो। फिर तुम्हें दूसरा कौन समझा सकता है! न तुम्हें अपने भक्तों की खबर है कि वे क्या कर रहे हैं और न अपनी काशी का पता है कि उसमें क्या हो रहा है! दिया तले अंधेरा है। यदि कबीर साहेब आज होते तो उन्हें कहना पड़ता कि बिजली के लट्टू के ऊपर ही अंधेरा है। क्योंकि दिया के तले में अंधेरा होता है और लट्टू के ऊपर अंधेरा होता है। जहां से शिव जी टस-से-मस नहीं होते वही काशी अज्ञान, धांधलेबाजी और दुराचार में डूबी है। इससे अधिक दुख की बात और क्या हो सकती है!

"जो जेहि मन से रहल आय, जिव का मरण कहु कहाँ समाय।" जिसके मन में जो आता है वह काशी की वैसी ही महिमा हांकता है। काव्य देखो, पुराण देखो तथा अन्य धर्गग्रन्थ देखो तो विवेक-बुद्धि को ताख पर रखकर लेखकों ने काशी की महिमा लिखी है। चाहे जितना पापी हो, हत्यारा हो, दुराचारी हो, परन्तु काशी पहुंचते ही वह सारे पापों से छूट जाता है, निर्वाण एवं मोक्षपद पा जाता है। यह सब मनमानी एवं

उन्मादी वक्तव्य धर्म के धंधेबाजों के चलते रहते हैं। जिसके मन में जो आया महिमा के जोश में वैसा ही हांका। परन्तु साहेब कहते हैं "जिव का मरण कहु कहाँ समाय।" जीव मरकर कहां समाता है? जीव जब शरीर छोड़ देता है तब उसकी क्या स्थिति होती है? इस पर विचार करो। जीव ने जीवन में जैसे कर्म किये हैं, उन कर्मों के संस्कार उसके मन में अंकित रहते हैं। उन कर्मों के अनुसार जीव की गति होती है। कोई काशी, कोई अयोध्या, प्रयाग, गया, बद्री, कोई शिव, विष्णु, राम, कृष्ण उसके पाप को काट नहीं सकते। इनके स्वयं के ही कर्म नहीं कटे।[1] इन सबको अपने कर्म-फल भोग भोगने पड़े, फिर ये तुम्हारे कर्म कैसे काट सकते हैं! नदी स्नान, भूमि दर्शन तथा किसी तीर्थ का भ्रमण तुम्हारे मन के पाप को काट नहीं पायेंगे। तुम्हारे विवेक ग्रहण तथा दोषों के त्याग से ही तुम्हारे बन्धन कट सकते हैं। अतएव जीव जैसे-जैसे कर्म कर रखा है, वैसे-वैसे उसे फल भोगने पड़ेंगे।

"ताकर जो कछु होय अकाज, ताहि दोष नहिं साहेब लाज।" यदि काशी की मिथ्या महिमा में भूलकर मनुष्य उसी के भरोसे अपने कर्म नहीं सुधारे तो उसका अकल्याण होगा। परन्तु उसका दोष उस पर नहीं माना जायेगा। यह तो स्वयं शिव महाराज का दोष माना जायेगा, जो सब कुछ जानते हुए भी भक्तों के सामने सही बात नहीं कह रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि काशी की मिथ्या महिमा से भक्तों के गुमराह होने का दोष भक्तों पर कम है, किन्तु इसके प्रचारकों पर ज्यादा है। प्रचारकों, पंडितों, पुरोहितों तथा साधु-संन्यासियों ने यह मिथ्या महिमा फैलाकर मनुष्यों को पथभ्रष्ट किया है।

उक्त बातें सुनकर शिव जी हर्षित होकर बोले। यहां शिव के बोलने का तात्पर्य है काशी की महिमा करने वाले शैव लोग हर्षित होकर बोले कि जहां शिव जी स्वयं निवास करते हैं वहां पाप और यम का प्रवेश नहीं हो सकता। यहां काशी की मिथ्या महिमा की पुष्टि शिव के द्वारा भी करा दी गयी है। क्योंकि पुराणों में ऐसी ही बातें शिव जी से कहलायी गयी हैं।

इसके बाद कबीर साहेब ने कहा कि लोग भले यह कहकर चार दिन संतोष करें कि काशीवास मात्र सारे पापों से मुक्त कर देगा, परन्तु यह बात सच नहीं है। वस्तुतः कबीर तो वही कहते हैं जो विवेक से देखते हैं। विवेक से यही ठहरता है कि जीव जैसा कर्म करेगा वैसा फल पायेगा। ये काशी आदि तीर्थ उसके पाप नहीं काट पायेंगे।

पाखंड छोड़कर आत्मशोधन करो

1. देखिए 'आपन कर्म न मेटो जाई।' (शब्द 110)

बसन्त-12

हमरे कहलक नहिं पतियार, आप बूड़े नर सलिल धार॥ 1॥
अन्धा कहै अन्धा पतियाय, जस बिश्वा के लगन धराय॥ 2॥
सो तो कहिये ऐसो अबूझ, खसम ठाढ़ ढिग नाहीं सूझ॥ 3॥
आपन आपन चाहैं मान, झूठ प्रपंच साँच करि जान॥ 4॥
झूठा कबहुँ न करिहैं काज, हौं बरजों तोहि सुनु निलाज॥ 5॥
छाड़हु पाखण्ड मानो बात, नहिं तो परबेहु यम के हाथ॥ 6॥
कहहिं कबीर नर किया न खोज, भटकि मुवा जस बन के रोझ॥ 7॥

शब्दार्थ—पतियार= पतिआर, विश्वास, प्रतीत। सलिलधार= पानी की धारा, वासना-प्रवाह। अन्धा= विवेकहीन। बिश्वा= वेश्या। लगन= लग्न, विवाह का मुहूर्त। खसम= पति, स्वामी, चेतन आत्मा। ढिग= पास। निलाज= निर्लज्ज। यम= वासना। रोझ= नीलगाय।

भावार्थ—मनुष्य हमारी बातों पर विश्वास नहीं करता। वह स्वयं भवसागर की धारा में डूबता है॥ 1॥ अंधे लोग अंधों की बातों पर विश्वास करते हैं। आदमी उसी प्रकार आत्मनिष्ठा छोड़कर नाना देवी-देवताओं की भावनाओं में बह रहा है जैसे वेश्या नित्य नये-नये लोगों को अपना पति बनाती है॥ 2॥ उसको तो ऐसा नासमझ कहना चाहिए कि जैसे किसी का स्वामी पास ही में खड़ा हो किन्तु उसे वह न दिखाई दे और वह अन्यों के साथ भटके, वैसे आत्मारूपी परमात्मा हृदय में ही विद्यमान है, परन्तु अज्ञानवश आदमी बाहर नये-नये परमात्मा खोजता फिरता है॥ 3॥ संप्रदायी लोग केवल अपने-अपने मान-सम्मान में अटके हुए हैं, इसलिए वे अपने बनाये झूठे आडम्बर को सच्चा समझते हैं॥ 4॥ परन्तु हे निर्लज्ज! सुन, मैं तुम्हें झूठ की तरफ जाने से रोकता हूं, क्योंकि असत्य तुम्हारा कल्याण नहीं कर सकता॥ 5॥ इसलिए पाखण्ड की बातें छोड़कर मेरी सत्य बातों को समझने का प्रयास करो, अन्यथा वासनाओं के हाथ में पड़े जगन्नगर में चक्कर काटा करोगे॥ 6॥ कबीर साहेब कहते हैं कि आदमी स्थिर होकर आत्म-अन्वेषण नहीं करता, प्रत्युत वन की नीलगायों की तरह भटक-भटक कर मरता है॥ 7॥

व्याख्या—कबीर साहेब ने देखा कि चारों ओर लोग झूठी बातों को धर्म, देवता तथा ईश्वर मानकर उनके जाल में उलझे हैं। यदि उनको सही राय दी जाती है तो वे उस पर ध्यान नहीं देते। जैसे कोई नदी की धारा में या समुद्र की लहरों में डूबता हो और बाहर खड़े अपने हितचिंतक के किये गये सहयोगों का आधार न पकड़ता हो, वैसे मनुष्य नाना भ्रांतियों में डूबता है, परन्तु सही पथ दिखाने वाले सन्तों की ओर वह निगाह ही नहीं डालता है।

संसार में अंधे अंधों को चला रहे हैं, तो वे दोनों कहीं कुएं में गिरकर डूबेंगे। जिसे स्वयं विवेक नहीं है वह दूसरे को तारने का ठेका ले रहा है। जो स्वयं भटका हो

वह दूसरे को रास्ता क्या बता सकता है! परन्तु संसार में ऐसे ही गुरु सैकड़ों मिलेंगे जिन्हें अपने तनोबदन की खबर नहीं, किन्तु वे दूसरों के उद्धार में लगे हैं। और ये आदमी भी बड़े भोले हैं। वेश्या के पास नये-नये पुरुष आते हैं, उसका अपना कोई पति नहीं है। यही दशा उन दिशाहीन भक्तों की है जिनको अपने स्वरूप का बोध न होने से वे नये-नये देवी-देवताओं के चक्कर में भटकते रहते हैं। ऐसे लोगों को महा अज्ञानी कहना चाहिए। जो बाहर देवी-देवताओं में भटकता है वह सदैव भटकता ही रह जायेगा, परन्तु उसे संतोष नहीं मिलेगा। बिना शीतल सुमिष्ट जल पाये ओस चाटने से भला प्यास कैसे जायेगी! देवों का देव परमदेव, परम परमात्मा तो हृदय-गुहा में विराजमान अपनी आत्मा ही है। यह अपनी चेतना, अपना आपा तथा 'स्व' यही तो असली ब्रह्म है, खुदा है, अल्लाह है, गॉड है। यही परम परमार्थ है। परन्तु मनुष्य की अपनी मूढ़ता यह है कि वह परमात्मा को, परमदेव को बाहर खोजता फिरता है।

अधिकतम सम्प्रदायों के लोगों को न सत्य को समझने की चेष्टा है और न आत्मज्ञान की पिपासा है। वे तो अपनी-अपनी गुरुवाई में लिपटे हैं और अपनी-अपनी वेषमर्यादा के चक्कर में लगे रहते हैं। उनको भूख है कि उनको सम्मान मिले, उनके नाम फैलें। इसलिए वे धर्म, भगवान, अवतार, देवी, देवता आदि के नाम पर बड़ी-बड़ी जालसाजियां करते हैं। वे अपनी झुठाई का जाल फैलाते हैं। वे अपने आप को अवतार एवं भगवान घोषित करते या शिष्यों से करवाते हैं। वे ऐसी झूठी-झूठी अफवाहें उड़ाते हैं या उनके शिष्य उनके लिए उड़ाते हैं कि जनता उनको चमत्कारी पुरुष माने, और चमत्कार छल-कपट के अलावा कुछ नहीं है। चाहे बड़े पुरुषों के नाम में जुड़े चमत्कार हों और चाहे धर्म के धन्धेबाजों के नामों में, वे सब छल-कपट के प्रपंच रहते हैं। बड़े पुरुषों ने तो अपने लिए स्वयं चमत्कार का प्रपंच लगाया नहीं है और जो स्वयं अपने विषय में चमत्कार स्वीकारता हो या किसी भी तरह चमत्कार को प्रश्रय देता हो वह चाहे जितना नाम-ग्राम में बड़ा हो, वस्तुतः धूर्त है। जो विश्व के नियमों के विरुद्ध है वह असत्य है।

सद्गुरु कहते हैं—"झूठा कबहुँ न करिहैं काज, हौं बरजों तोहि सुनु निलाज।" हे निर्लज्ज! सुन, मैं तुम्हें रोकता हूं। असत्य तेरा कल्याण नहीं कर सकता। चमत्कार तथा देवत्व का झांसा देकर कोई धर्म का धन्धेबाज धन तथा चेले भले बढ़ा ले, परन्तु उसकी अंतरात्मा संतुष्ट नहीं हो सकती। वे निर्लज्ज हैं जो एक तरफ तो धर्म और ईश्वर के भक्त बनते हैं और दूसरी तरफ अतिमानवीय, दैवीय, चमत्कारी तथा अतिशयोक्तिपूर्ण बातें करते हैं जो सब-की-सब झूठी होती हैं। जिसमें कपट, छल और दिखावा है, वही चमत्कारी बातें करता है। उसके पास शांति नहीं रह सकती। शांति तो उसके हृदय में रहती है जिसका हृदय निष्कपट, सरल तथा सत्यानुरागी हो। पाखंडी धन तथा जनता जुटा सकता है, परन्तु उसके मन में शांति नहीं आ सकती। असत्य हर जगह कंटक का पथ है और धर्म के नाम पर असत्य का आधार लेना तो

महापाप है।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं "छाड़हु पाखंड मानो बात, नहिं तो परबेहु यम के हाथ।" पाखण्ड छोड़ दो और बात मानो, सदैव सत्य का आधार लो, अन्यथा वासनाओं के सिकंजे में फंसकर दुख भोगोगे। जो लोग मूढ़तावश असत्य में फंसे हैं, कल्याण तो उनका भी नहीं है, परन्तु वे मन से ईमानदार होने से उतने अशांत नहीं होंगे, किन्तु जो लोग धर्म के नाम पर धूर्त हैं, जान-बूझकर लोगों को असत्य में फंसाते हैं, उनको उनकी वासनाएं क्षमा नहीं कर सकतीं। कोई बाहर से धर्म का चाहे जितना साफ चोंगा पहन ले, परन्तु उसके भीतर की छलपूर्ण वासनाएं उसे कचोटती रहेंगी और उसकी आत्मा को पीड़ित करती रहेंगी। जो पाखंड नहीं छोड़ेगा वह यम के हाथों में अवश्य पड़ेगा। यम के हाथ हैं वासनाओं का जाल। आदमी बाहर किसी को छल सकता है, परन्तु उसकी अपनी अंतरात्मा जानती है कि वह क्या कर रहा है! उससे मनुष्य का बचना असंभव है। हम बाहर के लोगों से अपने को छिपा सकते हैं, किन्तु अपने भीतर वाले से नहीं छिपा सकते।

"कहहिं कबीर नर किया न खोज, भटकि मुवा जस बन के रोझ।" आदमी खोज नहीं करता है, किन्तु जंगल की नीलगायों की तरह भटक-भटक कर मरता है। जंगल की नीलगायें बड़ी तेज होती हैं। वे भय की थोड़ी ही आहट पाकर जोर से भागती हैं। इस अन्तिम पंक्ति में दो महत्त्वपूर्ण भाव वाले शब्द हैं 'खोजना' तथा 'भटकना'। खोजने वाला भटकता नहीं तथा भटकने वाला खोज नहीं कर सकता। बाहर की वस्तुओं को खोजने के लिए तो बाहर चलना भी पड़ता है; किन्तु यदि हम अपनी खोज करना चाहें तो उसके लिए भटकना बन्द करना पड़ता है। आत्म-खोज में भटकना स्वयमेव बन्द हो जाता है। अपने आप का शोधन करना कि मैं कौन हूं, किसमें बंधा हूं, मुझे छुटकारा कैसे मिलेगा, मुझे क्या चाहिए, इन बातों पर जो निरन्तर चिंतन करेगा उसको थोड़े दिनों में आत्मबोध एवं निजस्वरूप का बोध हो जायेगा। इसके लिए बोधवान सद्गुरु तथा विवेकी संतों का सत्संग करना चाहिए। भटकना तभी बन्द हो सकता है जब निजस्वरूप का बोध हो जाये।

फल छन्द

माया वसन्त विहार तजि,
निजरूप में निरवाध्य हो।
संयोग और वियोगमय,
जिसमें न अन्य उपाध्य हो॥
सत् न्याय अस दीन्हें प्रभो,
जो सर्व हितकर साध्य हो।
करुणा-निधान पिछान यह,
सेवक सदा पद राध्य हो॥

चौपाई

कामुक राग दूर सब डारे।
शुद्ध भद्र ह्वै मन को मारे॥
सोइ प्रेमी सत पारख धारे।
आप तरे औरन कहँ तारे॥

चाचर

हेतु छन्द

निश्चय सहन प्रयत्न आशा,
कोटि कोटि विहार में॥
तृष्णा बढ़ी चिल्लात हा! हा!!
पर न चेतत सार में॥
कामी वो क्रोधी लोभिया,
दम्भी छली जु हजार में।
रे जीव! जीवन व्यर्थ में,
क्यों खोवता कु-अहार में॥

दोहा

चाचर मेरो बैन सुनि, तृष्णा करि निर्मूल।
पर बोझा डालब सहज, निजपद निज अनुकूल॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

सप्तम प्रकरण : चाचर

माया से वही बचता है जिसके मन में मोह नहीं समाता

चाचर-1

खेलति माया मोहनी, जिन्ह जेर कियो संसार॥ 1॥
रचेउ रंगते चूनरी, कोइ सुन्दरि पहिरे आय॥ 2॥
शोभा अद्भुत रूप वाकी, महिमा बरणि न जाय॥ 3॥
चन्द्र बदनि मृगलोचनी, माया बुन्दका दियो उघार॥ 4॥
जती सती सब मोहिया, गजगति ऐसी जाकी चाल॥ 5॥
नारद को मुख माँड़ि के, लीन्हों बसन छोड़ाय॥ 6॥
गर्भ गहेली गर्भ ते, उलटि चली मुसकाय॥ 7॥
शिव सन ब्रह्मा दौरि के, दूनों पकरे धाय॥ 8॥
फगुआ लीन्ह छुड़ाय के, बहुरि दियो छिटकाय॥ 9॥
अनहद धुनि बाजा बजै, श्रवण सुनत भौ चाव॥10॥
खेलनहारा खेलि हैं, जैसी वाकी दावँ॥11॥
ज्ञान ढाल आगे दियो, टारे टरै न पाँव॥12॥
खेलनहारा खेलि हैं, बहुरि न वाकी दावँ॥13॥
सुर नर मुनि औ देवता, गोरख दत्त औ ब्यास॥14॥
सनक सनन्दन हारिया, और की केतिक बात॥15॥
छिलकत थोथे प्रेम सों, मारे पिचकारी गात॥16॥
कै लीन्हों बसि आपने, फिर फिर चितवत जात॥17॥
ज्ञान डाँग ले रोपिया, त्रिगुण दियो है साथ॥18॥
शिवसन ब्रह्मा लेन कहो है, और की केतिक बात॥19॥
एक ओर सुर नर मुनि ठाढ़े, एक अकेली आप॥20॥
दृष्टि परे उन काहु न छाड़े, कै लीन्हों एकै धाप॥21॥
जेते थे तेते लिए, घूँघट माहिं समोय॥22॥
कज्जल वाकी रेख है, अदग गया नहिं कोय॥23॥

इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े, लोचन ललचि लजाय॥24॥
कहहिं कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय॥25॥

शब्दार्थ—जेर= दुर्बल, पराजित। चूनरी= चुनरी, लाल जमीन का कपड़ा जिस पर सफेद या दूसरे रंग की बूटियां बनी हों; सत, तम गुण से युक्त रजोगुण की त्रिगुणात्मिका चुनरी। बदनि= मुख वाली। बुन्दका= सेंदुर का गोल टीका, टिकुली। जती= त्यागी। सती= सत्यधारी, पतिव्रता। माँड़ि के= छिपाकर। बसन= लज्जारूपी वस्त्र। गर्भ गहेली= गर्व रखने वाली, मदोन्मत्ता। फगुआ= फगुआ खेलने के उपलक्ष्य में दिया जाने वाला उपहार (भेंट)। छिटकाय= फैला दिया, जगत की तृष्णा में बांध दिया। ढाल= तलवार की चोट रोकने के लिए चाम या धातु का बना गोल शस्त्र, ज्ञान रूपी ढाल। छिलकत= उछलते हैं। थोथे= उथले, मिथ्या। गात= शरीर। डाँग= डंडा, दंड, स्तंभ। रोपिया= स्थिर किया, गाड़ दिया। धाप= एक मील की या दो मील की लंबान, दौड़। रेख= चिह्न, छाप। अदग= निर्दोष, निष्कलंक।

भावार्थ—जिसने संसार के सारे जीवों को दुर्बल एवं पराजित कर दिया है वह मोहिनी-माया मानो जीवों के साथ फाग खेल रही है॥ 1॥ इसने रजोगुण की लाल जमीन पर सतोगुण तथा तमोगुण की सफेद तथा काले रंग की छाप डालकर त्रिगुण की चुनरी बनायी है जिसे कोई देहाभिमानी जीव ही पहनता है॥ 2॥ उस माया की रूप-शोभा अद्‌भुत है। उसकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता॥ 3॥ उसका मुख चंद्रमा-जैसा तथा आंखें मृगिनी-जैसी हैं। उस माया ने मस्तक में सेंदुर का गोल टीका लगाकर अपने मुख को उघाड़ रखा है॥ 4॥ त्यागी और सत्यधारी जो कोई उसके चपेट में आये सब विमोहित हो गये। जिसकी चाल ही मस्त हाथी की तरह है उससे कोई बिरला ही बचेगा॥ 5॥

उसने नारद का असली मुख छिपाकर बन्दर का बना दिया और उनके लज्जा के वस्त्र छीन लिये जिससे वे निर्लज्ज होकर सभा में माया के लिए उचकते फिरे॥ 6॥ वह अभिमानिनी माया नारद की मूर्खता पर गर्व से हंसती हुई लौटकर विष्णु के साथ चली गयी॥ 7॥ शिव के सहित ब्रह्मा को भी माया ने दौड़कर पकड़ लिया॥ 8॥ इस फाग के खेल में उसने उनको ध्यान-योग से वंचित कर दिया, और फिर भोगों की तृष्णा में उन्हें बिखेर दिया॥ 9॥ माया के आभूषणों एवं स्वर-संगीतों से जो उनको मधुर-ध्वनि सुनाई दी, उन्हें अनाहतनाद-जैसा पवित्र लगा, वे उसे अपने कान से सुनते ही उस माया की चाहना में पागल हो गये॥ 10॥ माया की घुड़दौड़ में खेलने वाले लोग जैसा दांव पाते हैं, खेलते हैं॥ 11॥ कितने ज्ञानियों ने अपने ज्ञान की ढाल आगे कर माया से युद्ध किया, परन्तु बहुत जोर लगाने पर भी वे माया के मजबूत पांव नहीं हटा सके॥ 12॥ माया के साथ खेलने वाले तो खेलेंगे ही। समय बीत जाने पर उनको पुनः माया के उपयोग का अवसर तो मिलेगा नहीं, अतः वे माया-भोग को ही परम सौभाग्य मानते हैं॥ 13॥ यहां तक कि प्रकार-भेद से सुर, नर, मुनि, देवता,

गोरख, दत्तात्रेय, वेदव्यास, सनक-सनंदनादि सब माया द्वारा परास्त किये गये हैं, फिर दूसरे की बात क्या चलायी जाये!॥ 14-15॥

माया, मोह की पिचकारी सबके शरीर पर मारती है और सब उसके क्षणिक प्रेम में उछलते हैं॥ 16॥ उसने लोगों को अपने वश में कर लिया है, और वह लौटकर पुनः-पुनः देखती है कि कोई मेरे फंदे से बच तो नहीं गया है, अथवा वह घूम-घूमकर लोगों को नेत्र-बाण मारती है और पुनः-पुनः मोहित करती है॥ 17॥ उसने देखने के लिए ज्ञान का स्तंभ गाड़ रखा है, परन्तु उसके साथ त्रिगुण लगा दिया है। अतएव शिव के सहित ब्रह्मा ने ज्ञान ग्रहण के बहाने मानो माया को ही लेने की बात की है, फिर दूसरे की बात ही क्या है!॥ 18-19॥ एक ओर तो देवता, मनुष्य तथा मुनिगण अर्थात सारी सृष्टि खड़ी है, और दूसरी ओर माया स्वयं अकेली खड़ी है। परन्तु उसने अपनी दृष्टि में आने वाले उन किसी को भी नहीं छोड़ा जो उसके मोह में पड़े। उसने अपनी एक ही दौड़ में सबको धर-दबोचा॥ 20-21॥ जितने मोहित जीव थे, माया ने सबको अपने घूंघट में विलीन कर लिया। उसकी छाप ही कालिख है जिससे निष्कलंक कोई नहीं गया॥ 22-23॥ यहां तक कि इंद्र और कृष्ण भी माया के द्वार पर खड़े हैं और उनके नेत्र माया को देखकर ललचा रहे हैं तथा इच्छा भर भोग न पाने से लज्जित हो रहे हैं॥ 24॥ कबीर साहेब कहते हैं कि माया से वही बचता है जिसके मन में मोह नहीं समाता॥ 25॥

व्याख्या—चांचर होली के अवसर पर गाया जाने वाला गीत है। होली भारतवर्ष का एक कामोद्दीपक एवं राग-रंग का उत्सव एवं पर्व है। यह फाल्गुन के उत्तरपक्ष से मनाया जाने लगता है। पूर्णिमा को होलिका दहन किया जाता है तथा चैत्र के प्रथम दिन मुख्य फाग खेला जाता है जिसमें लोग एक दूसरे के ऊपर रंग और अबीर छोड़ते हैं। भद्दे लोग धूल और कीचड़ भी छोड़ते हैं। होलाका (होलिका) का वर्णन 'जैमिनि' तथा 'काठकगृह्य' में है; इससे सिद्ध होता है कि यह उत्सव ईसा के पूर्व से ही प्रचलित था। इस समय ठंडी समाप्त होते ही नयी फसल आती है, वृक्षों के पुराने पत्ते प्रायः झड़कर नये पत्ते आते हैं, आम्र-वृक्षों तथा अनेक वृक्षों में मौर तथा फूल आते हैं तथा आता है ऋतुराज वसंत। इसलिए संसारी लोग इस अवसर पर होलिका तथा फाग के नाम पर हंसी, गीत, नाचना, बजाना, रंग, गुलाल, अबीर आदि से मनोरंजन करते हैं।

कबीर साहेब अत्यन्त संवेदनशील पुरुष थे। उन्होंने अपनी कविताओं में ऐसे भी विषय दिये हैं जो उत्सव तथा त्योहार के साथ जुड़े हैं। उन्होंने यहां चाचर प्रकरण रखकर उसमें दो चांचर गीत कहे हैं जिसमें फाग का खेल है। इस चाचर में माया की प्रबलता का वर्णन है। बताया गया है कि माया सबके साथ फाग खेल रही है। होली में होने वाली स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक युद्ध-क्रीड़ा को भी चांचर कहते हैं। इसमें दोनों ओर से पिचकारी में रंग भरकर एक दूसरे पर छोड़ते हैं। इसमें प्रायः स्त्रियां ही विजयिनी होती हैं और पुरुष पराजित हुआ करते हैं।

साहेब कहते हैं कि यह माया मोहिनी है। यह लोगों को मोहती रहती है। यह मानो संसार के लोगों के साथ में फाग खेलती है और इसने सबको जेर कर लिया है। जेर का अर्थ है दुर्बल और पराजित। इस माया ने सबको अपने में फंसाकर दुर्बल तथा पराजित कर लिया है। यहां माया में स्त्री और माया का श्लेष है। वैसे माया है मन का विषयों के प्रति आकर्षण। चूंकि विषय मन को खींचते हैं इसलिए विषय भी माया है। इस प्रकार यह माया संसार के सभी स्त्री-पुरुषों को विमोहितकर उनका अधःपतन करती है।

इसने रंग से चुनरी रची है। चुनरी-कपड़े की जमीन लाल होती है और उस पर अन्य रंगों की छाप होती है। यह रजोगुण मानो लाल रंग है जो चुनरी की जमीन है और उस पर सतोगुण तथा तमोगुण के श्वेत एवं काले रंग की छाप है। इस प्रकार यह रंग-बिरंगी त्रिगुणात्मिका चुनरी कोई सुन्दरी ही पहनती है। यहां सुन्दरी का अर्थ है देहाध्यासी। जो विषयों के राग-रंग में डूबा है वही सुन्दरी है और वही त्रिगुणात्मिका चुनरी को ओढ़ने वाला है।

संसार के राग-रंग में बड़े-बड़े ज्ञानी कहलाने वाले भी मूढ़ बन गये, क्योंकि उनको ज्ञान का घमण्ड था। ज्ञान मात्र से साधक माया से नहीं बच सकता। उसके लिए चाहिए कि वह कुसंग का त्याग एवं सत्संग का आधार रखे तथा साधना में लगा रहे।

यहां बात आयी है "नारद को मुख माँड़ि के, लीन्हों बसन छोड़ाय। गर्भ गहेली गर्भ ते, उलटि चली मुसकाय।" इन दोनों पंक्तियों में नारद-मोह की तरफ संकेत है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इस नारद-मोह-प्रसंग को गोस्वामी तुलसीदास जी रचित रामचरितमानस के बालकांड के राजा शीलनिधि एवं विश्वमोहिनी की कथा से नहीं जोड़ना चाहिए। क्योंकि गोस्वामी जी कबीर साहेब के बाद हुए हैं। वस्तुतः गोस्वामी जी ने नारद मोह[1] का जो उल्लेख किया है उसका विकास महाभारत से लेकर महाभागवत-पुराण, शिवपुराणादि में हुआ है। अतः कबीर साहेब ने इन्हीं सब ग्रन्थों एवं समसामयिक जनश्रुतियों से लिया होगा। साहेब कहते हैं कि नारद-जैसे ज्ञानी-मुनि मोह-मूढ़ हो गये। उन्होंने लज्जा त्यागकर माया की दीनता स्वीकार की। अतः यदि कोई भी असावधान होगा तो वह माया से कैसे बच सकता है। शिव हों, ब्रह्मा हों या विष्णु, सब माया के चक्कर में पड़े रहे। इनके विषय में पुराण पढ़कर जाना जाता है कि माया ने इन सबकी मिट्टी पलीद की है। माया ने इन सबसे फगुआ खेल में भोग का उपहार लिया, इनका ज्ञान-ध्यान छुड़ा दिया और इन्हें माया के चक्कर में बिखेर दिया।

योगी लोग अनाहतनाद सुनते हैं। वह भी माया ही है। इस माया के आभूषणों,

---

1. नारद-मोह के विषय में 110वें शब्द "आपन कर्म न मेटो जाई" की व्याख्या में देखें।

गीतों आदि की मधुर-ध्वनि मानो ज्ञानियों के लिए अनाहतनाद बन गयी है। वे इसे सुनकर माया की चाह में पड़ गये। संसारी लोग भोगों की क्रीड़ा करते हैं। वे इसमें अपने उत्तम अवसर समझते हैं। वे समझते हैं कि जवानी ही विषयानन्द लेने का समय है। इसे चूकने न दें। फिर दावं नहीं मिलेगा। अतएव वे विषयों में डूबे हुए गोबरकीट बने रहते हैं और उन्हीं में अपने आप को कृतकृत्य मानते हैं।

"ज्ञान ढाल आगे दियो, टारे टरै न पाँव।" कितने ज्ञानियों ने अपनी ज्ञान-ढाल आगे देकर माया से युद्ध किया, परन्तु वे माया के मजबूत पैर हटा न सके और अंततः माया से परास्त हुए। वस्तुतः उन ज्ञानियों की ज्ञान-ढाल अज्ञानरूप ही थी। शुद्ध ज्ञान के सामने माया का अंधकार तो रुक ही नहीं सकता। परन्तु जहां ज्ञानाज्ञान मिलित को शुद्ध ज्ञान मान लिया जाता है, वहां सम्हलना बड़ा कठिन होता है। "खेलनहारा खेलि हैं, बहुरि न वाकी दावँ।" यह माया ज्ञान में मिलकर जीव को भुला देती है, या कहना चाहिए कि जीव ज्ञान के नाम पर सुखाध्यासवश अज्ञान में मिलकर पुनः विषयों का खेल खेलने लगता है और उसी में अपना उत्तम अवसर समझता है। ज्ञान के नाम पर जब उसे कुछ मान, कीर्ति, पूज्यता, प्रतिष्ठा एवं भोग वस्तुएं मिल जाती हैं तब वह उन्हीं में अपने आप को पूर्णकाम मान लेता है। यह उसकी दरिद्रता एवं तुच्छता है।

साहेब सुर, नर, मुनि, देवता तथा व्यास के साथ विरक्त गोरख, दत्तात्रेय, सनक-सनंदनादि को भी माया द्वारा हारे हुए बताते हैं। यहां उनके कथन का सूक्ष्म अर्थ है। माया केवल स्थूल-भोग ही नहीं है, किन्तु अपने शुद्ध चेतनस्वरूप आत्मा से अलग जो कुछ अपना माना जाये वह सब माया है। ज्ञानीजनों में भी जो कोई अपने स्वरूप एवं अपनी आत्मा से अलग परमात्मा तथा अपने लक्ष्य को मान बैठा है यह माया द्वारा मानो परास्त किया जाना ही है, और कोई अपनी आत्मा की गरिमा समझा भी तो उसे जड़ विश्व में मिलाकर अग-जग व्यापक होने की धारणा कर ली, जो माया ही है। कहने का अर्थ यह कि अपनी शुद्ध आत्मा में न स्थित होकर ज्ञानियों ने अपने मन की कल्पनाओं में स्थिति मानी, इसलिए मानो वे माया एवं मन से परास्त किये गये।

संसार का प्रेम छिछला है। उसके छिछले प्रेम में आंदोलित होना बालकपन है और सारा संसार इसी में भटक रहा है। जैसे फाग में एक दूसरे के शरीर पर रंग की पिचकारी मारते हैं, वैसे संसार के लोग एक दूसरे को आसक्ति-फांस में बांधकर संसार-सागर में डूबते-डुबाते हैं। इस माया ने सबको अपने वश में कर लिया है और वह पुनः-पुनः देखती जाती है कि कोई मेरे फंदे से बचा तो नहीं है। "फिर फिरि चितवत जात" में माया के मोह-बाण की व्यंजना है।

"ज्ञान डाँग ले रोपिया, त्रिगुण दियो है साथ। शिवसन ब्रह्मा लेन कहो है, और की केतिक बात।" जिसके साथ त्रिगुण लगा हुआ है ऐसा ज्ञानस्तंभ मानो माया ने ही रोपा है। जिस ज्ञान में जीव अपने शुद्ध चेतनस्वरूप से अलग अपने लक्ष्य की कल्पना करता हो तथा जिस ज्ञान में जड़ से सर्वथा अलग अपनी स्थिति न हो वह ज्ञान भले

ऐसा लगे कि यह तो ज्ञान का महान स्तंभ ही है, परन्तु उसे समझ लो कि वह त्रिगुणयुक्त है अर्थात मायारूप ही है। ऐसे मायायुक्त ज्ञान को शिव के सहित ब्रह्मा ने भी ग्रहण करने की बात कही है, फिर दूसरे की बात क्या कही जाये! जहां ज्ञानियों ने अपने ज्ञानातिरेक में यह कह डाला है कि मैं ही चांद, सूरज तथा अनंत विश्व-ब्रह्मांड हूं, वहां यही बात है कि ज्ञान के साथ त्रिगुण मिल गया है। यदि चेतन अपने साक्षीपन को भूलकर दृश्य भास को अपना रूप मानता है तो वह ज्ञान के नाम पर घोटाले में है। हां, सारे संकल्पों के त्याग देने के बाद जब शुद्ध चेतन मात्र रह जाता है तब साक्षी भी न रहकर केवल ज्ञान-मात्र रहता है। यही दशा उच्चतम है। परंतु जो ज्ञानी कहलाने वाले जड़ दृश्य भास को अपना स्वरूप मानते हैं वे मानो रूप बदलकर ज्ञान के चोंगे में माया में ही डूब रहे हैं।

साहेब कहते हैं कि माया बड़ी विचित्र है। एक ओर तो सुर, नर, मुनि आदि सृष्टि के सभी जीव खड़े हैं और दूसरी ओर केवल माया खड़ी है, परन्तु वह अपनी नजरों में आने वाले सभी लोगों को एक दौड़ में धर दबोचती है। यह माया किसी को स्थूल इन्द्रियों के भोगों में, किसी को मान-बड़ाई में, किसी को ब्रह्मज्ञान के नाम पर विश्व-अभिमान में, किसी को पूजा-पाठ एवं भक्ति के नाम पर पानी-पत्थरों में भटकाती है। माया के स्थूल-सूक्ष्म दोनों स्वरूपों को परखकर उससे अलग निज शुद्ध चेतनस्वरूप में स्थित होना बिरले पारखी का काम है। जो परखते-परखते माया के सारे स्थूल-सूक्ष्म जालों को काट पायेगा वही इससे पूर्णतया उबरेगा।

इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि जितने लोग थे उन सबको माया ने अपने घूंघट में समा लिया है। माया की रेख कज्जल है। अर्थात किसी प्रकार का दाग लग जाना मानो माया का लक्षण है और "अदग गया नहिं कोय" इस माया से कोई निष्कलंक नहीं गया। विशेष क्या कहें "इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े, लोचन ललचि लजाय।" देवेंद्र इन्द्र तथा महायोगिराज कहलाने वाले महाज्ञानी कृष्ण माया के द्वार पर करबद्ध खड़े हैं और उसकी झांकी के लिए ललचा रहे हैं। इन्द्र पुलोम दानव की हत्या कर उसकी सुन्दरी पुत्री शची को छीनते हैं और कृष्ण रुक्मी को हराकर उसकी बहिन रुक्मिणी को छीनते हैं।[1] इसके साथ "श्री कृष्ण ने सद्गुण-सम्पन्न उत्तम कुलवाली आठ कन्याओं से विवाह किया जो उनकी पटरानियां बनीं, वे हैं कालिंदी, मित्रविंदा, सत्या, जाम्बवंती, रोहिणी, लक्ष्मणा, सत्यभामा तथा तन्वंगी। इनके अलावा सोलह हजार और स्त्रियां थीं। इन सबके साथ निस्सीम बल वाले श्री कृष्ण ने उतने ही रूप धारणकर उनसे विवाह किया।"[2]

---

1. हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय 59। भागवत, 10/52/53।
   नोट—यह भी सच है कि शची इन्द्र को चाहती थी तथा रुक्मिणी श्रीकृष्ण को चाहती थी।
2. महीषीरष्ट कल्याणीस्ततोऽन्या मधुसूदनः।

1. रुक्मिणी—विदर्भदेशीय भीष्मक की पुत्री, जिसका हरणकर कृष्ण ने राक्षस विधि से विवाह किया। "राक्षसेन विधानेन उपयेम इति श्रुतम्।"[1]

2. कालिंदी—सूर्यपुत्री।

3. मित्रविंदा—श्रीकृष्ण की बुआ राजाधिदेवी के गर्भ से उत्पन्न।

4. सत्या—अयोध्यानरेश नग्नजित की पुत्री।

5. जांबवंती—जांबवंत की पुत्री।

6. रोहिणी—केकयनरेश की पुत्री। यह श्रीकृष्ण की बुआ श्रुतिकीर्ति की कन्या थी।

7. लक्ष्मणा—मद्रराज की पुत्री।

8. सत्यभामा—सत्राजित की पुत्री।

9. तन्वंगी—गांधारदेशीय राजा शैब्य की पुत्री।[2]

पण्डितों ने इन नौ रानियों एवं पत्नियों के बाद कृष्ण से सोलह हजार स्त्रियां जोड़ीं। इन सबको श्रीकृष्ण कैसे संतोष देते थे, इसके समाधान में पण्डितों ने लिखा है कि वे सोलह हजार कृष्ण बन जाते थे और एक-एक कृष्ण एक-एक पत्नी के साथ हो जाते थे। श्रीकृष्ण सपत्नीक तथा अनेक पत्नियों वाले थे यह ठीक है, परन्तु सोलह हजार पत्नियां उनसे जोड़ना पण्डितों के मन की मलिनता का फल है। इसके बाद हजारों पर-नारियों से रास करना तथा भागवत और ब्रह्मवैवर्त वर्णित रास एवं गर्गसंहिता वर्णित अरबों-खरबों स्त्रियों का सहवास सब असंभव तथा पण्डितों का कृष्ण के साथ अन्याय है। यदि श्री कृष्ण ने रास की होती तो युधिष्ठिर के यज्ञ में जब उनकी अग्रपूजा से कुपित होकर शिशुपाल ने उन्हें गालियां दी थीं तब वह उनके द्वारा की गयी रास का उल्लेख अवश्य करता, परन्तु महाभारत में ऐसा कुछ नहीं है।

यहां का भाव तो इतना ही है कि श्री कृष्ण-इन्द्रादि सब माया के वश हुए। प्रश्न होता है कि क्या माया से बचने का कोई उपाय है? इसके उत्तर में सद्गुरु कबीर कहते हैं "कहहिं कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय।" जिसके मन में स्थूल-सूक्ष्म किसी

उपयेमे महाबाहुर्गुणोपेताः कुलोद्भवाः॥
कालिन्दीं मित्रविन्दां च सत्यां नग्नजितीमपि।
सुतां जाम्बवतश्चापि रोहिणीं कामरूपिणीं॥
मद्रराजसुतां चापि सुशीलां शुभलोचनाम्।
साम्राजितीं सत्यभामां लक्ष्मणां चारु हासिनीम्॥
शैब्यस्य च सुतां तन्वीं रूपेणाप्सरसोपमाम्।
स्त्रीसहस्राणि चान्यानि षोडशातुलविक्रमः॥
उपयेमे हृषीकेशः सर्वा भेजे स ताः समम्॥ (हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय 60, श्लोक 40-44)

1. भागवत, 10/52/18।
2. हरिवंश, विष्णुपर्व 60/40-44, गीता प्रेस, सटीक।

प्रकार की माया का मोह नहीं समाता उसका माया कुछ नहीं बिगाड़ सकती। वस्तुतः मोह ही माया है। जिसने स्थूल-सूक्ष्म सारे मोह का त्याग कर दिया है वह निर्विघ्न एवं सच्चा सुखी है।

चाचर-2

जारो जग का नेहरा, मन बौरा हो॥ 1॥
जामें सोग सन्ताप, समुझि मन बौरा हो॥ 2॥
तन धन से क्या गर्भ सी, मन बौरा हो॥ 3॥
भस्म कीन्ह जाके साज, समुझि मन बौरा हो॥ 4॥
बिना नेव का देव घरा, मन बौरा हो॥ 5॥
बिन कहगिल की ईंट, समुझि मन बौरा हो॥ 6॥
कालबूत की हस्तिनी, मन बौरा हो॥ 7॥
चित्र रचो जगदीश, समुझि मन बौरा हो॥ 8॥
काम अन्ध गज बशि परे, मन बौरा हो॥ 9॥
अंकुश सहियो सीस, समुझि मन बौरा हो॥10॥
मर्कट मूठी स्वाद की, मन बौरा हो॥11॥
लीन्हों भुजा पसारि, समुझि मन बौरा हो॥12॥
छूटन की संशय परी, मन बौरा हो॥13॥
घर घर नाचेउ द्वार, समुझि मन बौरा हो॥14॥
ऊँच नीच समझेउ नहीं, मन बौरा हो॥15॥
घर घर खायो डाँग, समुझि मन बौरा हो॥16॥
ज्यों सुवना ललनी गह्यो, मन बौरा हो॥17॥
ऐसो भरम विचार, समुझि मन बौरा हो॥18॥
पढ़े गुने क्या कीजिये, मन बौरा हो॥19॥
अन्त बिलैया खाय, समुझि मन बौरा हो॥20॥
सूने घर का पाहुना, मन बौरा हो॥21॥
ज्यों आवैं त्यों जाय, समुझि मन बौरा हो॥22॥
नहाने को तीरथ घना, मन बौरा हो॥23॥
पुजबे को बहु देव, समुझि मन बौरा हो॥24॥
बिनु पानी नर बूड़हीं, मन बौरा हो॥25॥
तुम टेकेउ राम जहाज, समुझि मन बौरा हो॥26॥
कहहिं कबीर जग भर्मिया, मन बौरा हो॥27॥
तुम छाड़हु हरि की सेव, समुझि मन बौरा हो॥28॥

शब्दार्थ—जारो= जाल, बंधन, अथवा जला डालो। नेहरा= मोह। साज= सामग्री, ठाट। कहगिल= गिलावा, गारा। कालबूत= मेहराब बनाने के लिए रखा गया

कच्चा भराव, कच्चा काम, कृत्रिम। जगदीश= जगत का ईश्वर, मन। अंकुश= गजबांक, हाथी हांकने का लोहे का छोटा शस्त्र। मर्कट= बंदर। डाँग= दंड, डंडा। सुवना= शुक, सुग्गा। ललनी= सुग्गा फंसाने की चरखी। टेकेउ= हठ पकड़ा है।

भावार्थ—हे पगले मन! संसार का मोह तुम्हारे फंसने के लिए जाल है। उसमें केवल शोक-संताप हैं, इसे समझ और मोह को जला दे॥ 1-2॥ हे पगले मन! ऐसे शरीर और धन का क्या अहंकार करता है जिसका शृंगार क्षण ही में खाक हो जाने वाला है॥ 3-4॥ हे पगले मन! तू इस बात को ठीक से समझ ले कि जैसे कोई देवालय बिना नींव के बना हो और उसकी दीवारों की ईंटों में गिलावा न लगा हो तो उसके ढहने में क्या देरी है, वैसे तुम्हारे सारे ऐश्वर्य क्षणभंगुर हैं॥ 5-6॥ हे पगले मन! जैसे काले कागज की हथिनी को सही मानकर कामांध हाथी उसके पास आता है और फंसा लिया जाता है तथा जीवनभर फीलवान का अंकुश सहता है, वैसे हे पगले! तू इस बात को समझ कि तू मन रूपी ईश्वर के बनाये स्त्री-पुत्रादि चित्रों में उलझकर जीवनभर मरता है॥ 7-10॥ हे मन पगले! स्वाद के वश बन्दर चने के लोभ से सुराही में हाथ डालता है और मुट्ठी में चने लेता है। वह न चने छोड़ता है और न उसकी मुट्ठी सुराही से निकलती है। फलतः बन्दर कलन्दर द्वारा हाथ फैलाकर पकड़ लिया जाता है। फिर बन्दर को उसके हाथ से छूटने का संशय होता है कि इसके बन्धनों से छुटूंगा कि नहीं। फिर वह ऊंच-नीच घर-घर तथा द्वार-द्वार नचाया जाता है और कलंदर के डंडे सहता है। यही दशा तुम्हारी है। तुम विषयों के लालच में पड़कर मनरूपी कलन्दर द्वारा जीवनभर संसार में नचाये जाते हो और संसार के डंडे सहते हो॥ 11-16॥ हे पगले मन! तुमने अपने आप को वैसे ही इस संसार के विषयों में सुख-भ्रम से बंधा हुआ मान लिया है जैसे शुक-पक्षी लालमिर्ची खाने के लोभ से नलिका-यंत्र में अपने आप को स्वयं बंधा हुआ मान लेता है॥ 17-18॥ हे पगले मन! इस बात को समझ कि केवल पढ़ने-गुनने से क्या होता है, यदि उसको अंत में माया-बिल्ली ने खा लिया॥ 19-20॥ हे पगले मन! तू इस बात को समझ कि जिस प्रकार सूने घर में आया हुआ पहुना जैसे भूखे-प्यासे आया वैसे लौट गया, उसी प्रकार तू इस संसार में अतृप्त होकर आया और अतृप्त ही लौट जाये तो जीवन का क्या फल मिला!॥ 21-22॥ हे पगले मन! तूने नहाने के लिए बहुत-सी नदियां और तीर्थ निर्धारित कर लिये और पूजने के लिए बहुत देवता बना लिये, और राम-नाम के जहाज का मोह पकड़ लिया, परन्तु तुम बिना पानी के डूब रहे हो, इसे समझो॥ 23-26॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे पगले मन! संसार के लोग तो भटके हुए हैं। हे संसार के लोगो! इस बात को समझो कि तुमने हरि का सेवन करना, अर्थात ज्ञानपथ से चलना छोड़ दिया है॥ 27-28॥

व्याख्या—यह दूसरा चांचर है। चांचर राग-रंग का विषय होता है; परन्तु विरक्त चूड़ामणि कबीर-रचित चाचर तो राग-रंग से वैराग्य कराने वाला विवेक से पूर्ण है।

उन्होंने इस पूरे चाचर में मन को सम्बोधित किया है और मन को पगला कहा है तथा उसे वास्तविकता समझने की राय दी है। विवेक कर देखा जाये तो प्रायः हर मनुष्य का मन पागल बना है। पागल अव्यवस्थित बातें सोचता है तथा अव्यवस्थित बातें करता है, वैसी ही दशा अन्य मनुष्यों की है। अन्तर यह है कि पागल कहा जाने वाला अपनी अव्यवस्थित बातें खुलकर कहता है तथा चेष्टा भी वह वैसी ही करता है और दूसरे मनुष्यों का मन अव्यवस्थित रहता है, उनका सोचना पागल-जैसा रहता है, परन्तु वे अपने मन के पागलपन को बुद्धि से दबाकर रखते हैं। साठ वर्ष का बूढ़ा पागल यदि सोचता है कि मैं बाइस वर्ष का हूं तो वह वैसे जबान से कहता भी है, परन्तु दूसरे साठ वर्ष के बूढ़े मन में तो सोच सकते हैं कि हम नवयुवक हैं, परन्तु जबान से वैसा नहीं कहते। विचार करके देखें तो सारा संसार भीतर-भीतर पागल है। वह ऊपर से तो होशहवास वाला बनता है, परन्तु भीतर से पागल रहता है। जिसका भीतरी पागलपन ज्यादा बढ़ जाता है उसका वह उभड़कर वाणी और कर्मों में आने लगता है। गाली, परनिंदा, असत्यभाषण, व्यभिचार, हत्या, चोरी, डाका, राहजनी, छल-कपटपूर्वक दूसरे का धन हड़पना तथा अन्य दुराचार भीतरी पागलपन का प्रकाशन है। इतना ही नहीं, मैं शरीर हूं, शरीर मेरा है, ये दुनिया के धन-दौलत तथा प्राणी-पदार्थ मेरे हैं, ऐसा मानना ही पागलपन है। विषयों में सुख है, यह मानना पागलपन है। इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण को लेकर सद्गुरु ने मन को पागल कहा है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे पगले मन! तू इस बात को भलीभांति समझ ले कि संसार का मोह तेरे फंसने का भयंकर जाल है। "जारो जग का नेहरा" 'जारो' को संज्ञा तथा क्रिया दोनों रूपों में मानकर उसका अर्थ किया जा सकता है। जारो का शुद्ध रूप है जार, जिसके दो अर्थ होते हैं, जाल तथा परस्त्री से प्रेम करने वाला। यहां पहला अर्थ ही उपयुक्त है, जाल। 'जारो' को ज्यों-का-त्यों रखकर अर्थ होगा 'जला दो'। संज्ञारूप में जारो का अर्थ 'जाल' तथा क्रिया रूप में 'जला दो' होगा। साहेब कहते हैं कि हे पगले मन! तू जिन प्राणी-पदार्थों में मोह करता है, जिन्हें अपना मानता है, वे तो तेरे फंसने के लिए जाल हैं। इसलिए इस मोह को जला दे। इसे ज्ञान की आग से राख कर दे। तू इस बात को समझ कि संसार के मोह में तुम्हें केवल शोक-संताप मिलते हैं। यह जीव अकेला आया है। यह अकेला है ही। इसे अपने आप को सदैव अकेला समझना चाहिए। इस संसार में कहीं और कभी भी ममता की रस्सी में नहीं बंधना चाहिए। कहीं ममता करो और शोक-संताप में जलो, यही ममता का फल है।

"तन धन से क्या गर्भ सी" तन और धन का क्या गर्व करते हो! चार दिनों में शरीर ढीलाढाला हो जाता है, रोग तथा बुढ़ापा से जीर्ण होकर काल के गाल में चला जाता है। और ऐसा ही नहीं, माता के गर्भ में, पैदा होने पर शिशुपन में, बालकपन में, तरुणाई में तथा भरी जवानी में—जब भी अवधि पूरी होती है इस देह के विनशते देरी नहीं लगती। यह शरीर एक दिन राख होता ही है, धन भी नष्ट हो जाता है। फिर

इसका क्या अहंकार किया जाये!

शरीर, परिवार, समाज, पद, प्रतिष्ठा, धन, वैभव वैसे क्षणिक हैं जैसे बिना नींव तथा गिलावा के बना मकान। इस संसार में कुछ भी स्ववश नहीं है। हाथ ही तुम्हारे हाथ में—वश में नहीं है। देह रहते-रहते जब कंपवायु धर दबोचता है तब गिलास उठाकर पानी पीना तथा मुख में ग्रास लेना कठिन हो जाता है।

जंगल में गड्ढा खोदकर उस पर टाटी रख देते हैं तथा टाटी पर कागज की हथिनी बनाकर खड़ी कर देते हैं। जंगली हाथी जब उधर आता है तब उसे असली हथिनी समझकर कामांध हो उसके पास दौड़ा जाता है। वहां जाते ही टाटी टूट जाती है और हाथी गड्ढे में गिरकर वहीं रहने के लिए विवश हो जाता है। फंसाने वाले कई दिनों तक उसे उसी में पड़े रहने देते हैं। वह भूख-प्यास से निर्बल हो जाता है। इसके बाद उसे जंजीर में फंसाकर और त्रास दे-देकर अपने वश में करता है और प्रशिक्षित करता है। फिर वह जीवनभर पराये हाथों में पड़ा रहता है तथा अपने सिर पर उसके अंकुश की मार सहता है।

मनुष्य की यही दशा है। वह कामांध होकर कालबूत की हस्तिनी में फंसता है। वह एक आकर्षक दिखते हुए जोड़े में फंस जाता है जो कालबूत के समान कच्चा, दिखाऊ तथा थोड़े दिनों में क्षीण हो जाने वाला है, परन्तु एक बार फंसकर जीवनभर उससे निकलना बड़ा कठिन हो जाता है। कोई बिरला ही वीर होगा जो उससे निकल सके। एक बार फंसे हुए मनुष्य के लिए फिर तो जीवनभर के लिए वह घनचक्कर चलना शुरू होता है, जिससे उबरना कठिन है। यह काम-वासना ही फांसी का तख्ता है। जिस पर विमूढ़ आदमी हंस-खेल तथा गा-बजाकर चढ़ता है। फांसी का तख्ता तो मिनटों में दुखों से मुक्त कर देता है, परन्तु यह काम-वासना का तख्ता जीवनभर छुट्टी नहीं देता। इस फांसी पर जो चढ़ा वह जीवनभर इसी पर लटका रहता है। यहां तक कि इसी वासना के कारण जीव जन्म-जन्मांतरों तक भटकता रहता है। मन ही जगदीश है, जगत का ईश्वर है। यही स्त्री-पुत्रादि का चित्र बनाकर खड़ा करता है जिसमें जीव फंसकर भटकता है।

बन्दर ने देखा कि सुराही में चने हैं। उसने लोभवश उसमें हाथ डाला और अपनी मुट्ठी चने से भर ली। मुट्ठी बंध जाने से सुराही से निकलती नहीं है; क्योंकि सुराही का मुख संकरा है और चने के लोभ से मुट्ठी खोलता नहीं है। इतने में कलंदर आकर अपने हाथ फैलाकर उसे बांध लेता है। फिर तो जीवनभर वह कलंदर का डंडा सहता है और उसके द्वारा घर-घर नचाया जाता है। यही दशा जीव की है। इन्द्रियों के सुख के लिए यह मूढ़ मन घर-गृहस्थी बसाता है। कुछ दिनों में संसार के विषयों में खूब आसक्त हो जाता है। यद्यपि उसे संसार से कष्ट मिलता है, परन्तु उसने विषयों के स्वाद की मुट्ठी पकड़ रखी है। वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। यदि बन्दर चने का लोभ छोड़कर अपनी मुट्ठी खोल दे तो भागकर बच जाये, तथापि उसे लोभ ने जकड़ रखा है

जो मन की अदृश्य रस्सी है। इसी प्रकार मनुष्य यदि मोह-लोभ छोड़ दे तो उसे कोई शक्ति बांध नहीं सकती, परन्तु उसके मन की अदृश्य रस्सी उसे मजबूती से बांधे रखती है। जैसे बंदर ऊंच-नीच सभी के द्वार पर कलंदर का डंडा खाते हुए नाचता है, वैसे जीव जीवनभर संसार एवं मन का डंडा खाते हुए नाचता है और ऊंची-नीची नाना योनियों में भटकता है।

शुक-पक्षी लालमिर्ची को खाने के लोभ में नलिकायंत्र (चरखी) पर बैठता है। चरखी तो उसके फंसाने के लिए ही रखी रहती है। शुक-पक्षी के बैठते ही चरखी घूम जाती है। इतने में शुक भयभीत होकर उसे जोर से पकड़ लेता है। वह समझता है कि मैं पकड़ लिया गया हूं, परन्तु तथ्य यह रहता है कि लालमिर्ची के खाने के लोभ में पड़कर उसने स्वयं चरखी को पकड़ रखा है। इसके बाद शुक पिंजरे में बन्द कर लिया जाता है। यही दशा मनुष्य की है। मनुष्य विषयों के भोग के लालचवश गृहस्थीरूपी चरखी पर बैठता है और गृहस्थी-चरखी उसको लेकर घूम जाती है। वह गृहस्थी के चक्कर में स्वयं को फंसा लेता है; परन्तु उसे लगता है कि गृहस्थी ने मुझे पकड़ लिया है जबकि उसने स्वयं गृहस्थी पकड़ रखी है। वस्तुतः गृहस्थी तो है विषयवासना। यह जीव स्वयं उसे पकड़ता है और स्वयं उसमें अपने आप को उलझाता है।

"पढ़े गुने क्या कीजिए, मन बौरा हो। अन्त बिलैया खाय, समुझि मन बौरा हो॥" शुक-पक्षी मनुष्य के पिंजरे में पलकर बहुत पढ़ लेता है, परन्तु इससे क्या हुआ जब उसको अन्त में बिल्ली ने धरदबोचा। इसी प्रकार आदमी बहुत पढ़ा-लिखा, अनेक भाषा, अनेक शास्त्रों तथा अनेक विषयों का विद्वान हो गया, परन्तु अन्ततः यदि वह माया-बिल्ली द्वारा खा लिया गया तो उसका पढ़ना-लिखना सब मिट्टी है। गृहस्थ को भी सदाचारसम्पन्न तो होना ही चाहिए।

यहां थोड़ा विचार साधुओं के लिए कर लेना चाहिए। गृहस्थ लोग जो विशेष नौकरी-चाकरी करना चाहते हैं उनके लिए तो ठीक है कि वे स्कूली विद्या पढ़ते रहें, परन्तु विरक्त मार्गावलंबियों को घर-गृहस्थी में रहकर जितनी स्कूली विद्या पढ़ लिये हों उसी के आधार पर यहां अध्ययन में लगना चाहिए। साधुओं को डिग्री नहीं लेनी है। डिग्री लेने से उनके मन में केवल मोह बढ़ सकता है। उन्हें तो अध्ययन करना चाहिए। अध्ययन से ज्ञान बढ़ता है, कक्षा एवं डिग्री से नहीं। यदि साधु संत-गुरु के संरक्षण में रहकर खूब डूबकर अध्ययन करें तो उन्हें जो चाहिए—भाषा, व्याकरण, इतिहास, दर्शन—सब में पंडित हो जायेंगे। यह ठीक है कि साधु को साधना की गहराई में उतरना चाहिए और तपस्वी होना चाहिए, परन्तु उसे विद्वान भी होना चाहिए। किन्तु विद्वान होने के लिए उसे स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालय का चक्कर काटने की आवश्यकता नहीं है। उसे संत और गुरुओं के साथ में रहकर अपने उपयोगी विषयों का अध्ययन करना चाहिए।

कालेज एवं विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले साधु-छात्रों को अन्य गृहस्थ छात्रों के सम्पर्क में आना पड़ता है, और रजोगुणी तथा अनेक स्वभावों के गृहस्थ छात्रों का संसर्ग पाकर साधु-छात्रों के मन में रजोगुणी संस्कार आने लगते हैं। डिग्रियों की प्राप्ति के बाद कितने साधु-छात्रों के मन में नौकरी करने की वासना जग जाती है, फिर पीछे लुगाई की। यह ठीक है कि कुछ-न-कुछ साधक तो लौट ही जाते हैं चाहे वे कितने ही उच्च संतों के पास रहते हो; परन्तु यहां तो बात है मात्रा की। यदि गृहस्थों के संपर्क में युवक साधु ज्यादा आयेंगे तो उनके जीवन में गिरावट आयेगी।

अतएव साधुजनों को चाहिए कि अपने मठों एवं समाजों को साधना एवं विद्या—दोनों का केन्द्र बनावें। जितने मुमुक्षु विरक्ति-मार्ग में आवें उन्हें वैराग्य और साधना का प्रशिक्षण दिया जाये, साथ-साथ भाषा, व्याकरण, इतिहास, दर्शन आदि पढ़ाया जाये, जो साधु के धर्म-प्रचार में आवश्यक हैं। अतएव साधु-समाज साधना और विद्या दोनों का केन्द्र होना चाहिए। सद्गुरु कहते हैं कि बहुत पढ़ा-लिखा, परन्तु उसको माया-बिल्ली ने धरदबोचा तो पढ़ने-गुनने से क्या हुआ!

"सूने घर का पाहुना, मन बौरा हो। ज्यों आवैं त्यों जाय, समुझि मन बौरा हो॥" किसी घर पर पहुना आया, परन्तु घर पर ताला लगा है। वहां कोई है ही नहीं, तो पहुना बेचारा जैसा भूखा-प्यासा आया वैसा ही लौट गया। यही दशा उनकी है जिन्होंने उत्तम मानव जीवन पाकर अपना कल्याण नहीं कर लिया। जीव अतृप्त ही इस संसार में आया और अतृप्त होकर ही लौट गया, तो जिन्दगी पाने का क्या मतलब हुआ! संसार में धन मिला, परिवार मिला, प्रतिष्ठा मिली, परन्तु भीतर में संतोष नहीं मिला, शाश्वत शांति नहीं मिली, तो क्या मिला!

यह ठीक है कि आदमी ने नहाने के लिए बहुत नदियों एवं तीर्थों का निर्धारण किया है, पूजने के लिए बहुत-से देवी-देवताओं का सृजन किया है और संसार-सागर से पार जाने के लिए राम नाम के जहाज का पल्ला पकड़ा है; परन्तु ये सब बहुत ऊपर-ऊपर की बातें हैं। ये सब बच्चों के खिलौने के समान हैं, जो थोड़ा सात्त्विक मनोरंजन करते हैं। इतने मात्र से वासनाओं का क्षय, स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति नहीं होती। इसके लिए सच्चे सद्गुरु की खोज, सुव्यवस्थित सत्संग, उनसे विनम्रतापूर्वक निर्णय ग्रहण, साधना एवं अध्यात्म में गहरी पैठ होनी चाहिए। साहेब कहते हैं कि आदमी यह सब नहीं करता। वह बिना पानी के डूबता है। कोई पानी में डूबे तो स्वाभाविक लगता है, परन्तु बिना पानी के डूबता है तो यह आश्चर्य लगता है। आदमी मिथ्या मान्यताओं में बंधकर अपना जीवन नष्ट करता है।

"कहहिं कबीर जग भर्मिया, मन बौरा हो। तुम छाड़हु हरि सेव, समुझि मन बौरा हो।" सद्गुरु कहते हैं कि जगत के लोग भटक रहे हैं; क्योंकि उन्होंने हरि का सेवन करना छोड़ दिया है। हरि है ज्ञान, और संसार के लोग ज्ञान का सेवन करना त्याग दिये हैं। निष्पक्ष निर्णय द्वारा नीर-क्षीर-विवेक करना तथा नीर का त्यागकर केवल

क्षीर को ग्रहण करना, हरि का सेवन करना है। विवेक करने से जो असत्य एवं छूटने वाला सिद्ध हो, उसका मोह छोड़कर कभी न छूटने वाले निजात्मदेव में रमण करना ही हरि का सेवन करना है। परन्तु मनुष्य हरि का सेवन करना छोड़ दिया है। इसलिए वह भटकता है।

यदि ऐसा अर्थ किया जाये कि संसार के लोग भटक रहे हैं इसलिए तुम हरि का सेवन करना छोड़ दो, तो हरि का अर्थ माया मोह होगा। हरि के अनेक अर्थों में एक अर्थ माया भी है जिस पर 34 से 37वें शब्द में काफी विचार किया गया है। लोग माया के सेवन के कारण ही भटकते हैं, यदि आदमी माया का सेवन करना छोड़ दे तो उसका भटकना बंद हो जायेगा।

फल छन्द

निश्चय सहन प्रयत्न अब तो,
लौटि गुरुपद ओर भौ।
सद्ज्ञान अग्नी भस्म कंटक,
शान्त भाव स्वठौर भौ॥
अब तो न कुछ इच्छा रही,
केवल निरिच्छा जोर भौ।
निज शान्ति साधक रहनि में,
पारख परख लहि भोर भौ॥

चौपाई

संत पारखी पारख दाता।
कहहिं बोधपद वचन सुहाता॥
सोइ बोधक वच, मन वच भ्राता।
कहहिं कबीर परख पद त्राता॥

बेलि

हेतु छन्द

यह रमैया राम चेतन-
धाम है विश्राम का।
जड़ से परे अतिशय खरे,
ज्ञाता स्वयं अभिराम का॥
पै यह अविद्या बेलि माया,
भास ग्रन्थि अनादि का।
अजहूँ परख परकाश बिन,
त्रयताप दुःख विषादि का॥

दोहा

श्वान कोल खग मृग दशा, भूल अहो दे शूल।
भूल सोई विघटन हितू, दीन बन्धु कहि रूल॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

अष्टम प्रकरण : बेलि

खरा और खोट परखो

बेलि-1

हंसा सरवर शरीर में, हो रमैया राम॥ 1॥
जागत चोर घर मूसहिं, हो रमैया राम॥ 2॥
जो जागत सो भागल, हो रमैया राम॥ 3॥
सोवत गैल बिगोय, हो रमैया राम॥ 4॥
आजु बसेरा नियरे, हो रमैया राम॥ 5॥
काल बसेरा बड़ि दूर, हो रमैया राम॥ 6॥
जइहो बिराने देश, हो रमैया राम॥ 7॥
नैन भरोगे दूर, हो रमैया राम॥ 8॥
त्रास मथन दधि मथन कियो, हो रमैया राम॥ 9॥
भवन मथेउ भरपूरि, हो रमैया राम॥10॥
फिरिके हंसा पाहुन भयो, हो रमैया राम॥11॥
बेधिन पद निर्बान, हो रमैया राम॥12॥
तुम हंसा मन मानिक, हो रमैया राम॥13॥
हटलो न मानेहु मोर, हो रमैया राम॥14॥
जस रे कियेहु तस पायेउ, हो रमैया राम॥15॥
हमरे दोष का देहु, हो रमैया राम॥16॥
अगम काटि गम कियेहु, हो रमैया राम॥17॥
सहज कियेहु विश्वास, हो रमैया राम॥18॥
राम नाम धन बनिज कियो, हो रमैया राम॥19॥
लादेउ बस्तु अमोल, हो रमैया राम॥20॥
पाँच लदनुवाँ लादि चले, हो रमैया राम॥21॥
नौ बहियाँ दश गोनि, हो रमैया राम॥22॥

पाँच लदनुवाँ खाँगि परे, हो रमैया राम॥23॥
खाखर डारिनि फोरि, हो रमैया राम॥24॥
शिर धुनि हंसा उड़ि चले, हो रमैया राम॥25॥
सरवर मीत जो हारि, हो रमैया राम॥26॥
आगि जो लागी सरवर में, हो रमैया राम॥27॥
सरवर जरि भौ धूरि, हो रमैया राम॥28॥
कहहिं कबीर सुनो सन्तो, हो रमैया राम॥29॥
परखि लेहु खरा खोट, हो रमैया राम॥30॥

शब्दार्थ—हंसा= हंस, जीव। सरवर= सरोवर, शरीर। रमैयाराम= हृदय में रमने वाला चेतन जीव। आजु= वर्तमान। काल= मृत्यु के बाद। बिराने देश= मनुष्येतर खानि, जड़ देश। दूर= मानवेतर योनि। त्रास= दुख। दधि= समुद्र, वाणी एवं संसार। भवन= देह। बेधिन= विखंडित किया। निर्बान= मोक्ष। मानिक= मानने वाला, लालमणि, माणिक्य। हटलो= रोकना। अगम= पहुंच के बाहर, मोक्षतत्त्व। गम= पहुंच, बाह्याचार। सहज= प्रार्थना-पूजादि। पाँच लदनुवाँ= अन्तःकरण पंचक, अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। नौबहियाँ= नौ बहंगी—नौ नाड़ियाँ—पुहुषा, पयस्विनी, गंधारी, हस्तिनी, कुहू, शंखिनी, अलंबुषा, गणेशिनी तथा वारुणी। दश गोनि= दस बोरे (थैले)—पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा पांच कर्मेन्द्रियां। खाँगि= खाँगना, गाय-बैल आदि के खुर पक जाने का रोग, दुर्बल। खाखर= खांखर, जिसमें बहुत छेद हों, शरीर। खरा= विशुद्ध, खालिस, सच्चा, निज चेतनस्वरूप। खोट= दोष, बुराई, घटिया माल।

भावार्थ—हे रमैयाराम चेतन! तुम हंस हो। तुम्हारा मानसरोवर शरीर के भीतर ही है; परन्तु दुख यह है कि तुम जाग्रतस्वरूप हो, फिर भी तुम्हारे हृदय-घर में कामादि चोर आत्म-धन को चुरा रहे हैं॥ 1-2॥ जो ठीक से जागता है वह इन चोरों के पास से भाग खड़ा होता है, परन्तु हे रमैया राम! जो सोता है, असावधान रहता है, वह अपने धन को खो देता है॥ 3-4॥ हे रमता चेतन! आज तुम्हारा निवास कल्याण-स्थल के बहुत निकट है; परन्तु यदि तुम कल्याण-साधना नहीं कर लिये तो कल तुम्हारा निवास बहुत दूर हो जायेगा। पता नहीं तुम किस योनि में पहुंच जाओ॥ 5-6॥ हे रमता राम! तुम्हारी अपनी स्वरूपस्थिति न होने से तुम पराये देश-पशु आदि योनियों में चले जाओगे, फिर कल्याण-साधन-स्थल से दूर पड़े नेत्रों में आंसू भर-भरकर रोते रहोगे॥ 7-8॥ हे रमैया राम! सांसारिक तापों से व्यथित होकर तुम्हारे मन में मंथन हुआ, इसलिए तुमने सुख के लिए मानो पूरा संसार-सागर ही मथ डाला, और भोगों में अपने इस शरीर को तो पूर्णरूप से मथा ही॥ 9-10॥ परन्तु हे रमैया राम! फल कुछ न मिला। यह जीव सुख के लिए फिर संसार का पहुना बना, जहां कि सुख नहीं है। इसने विषयों के वश होकर मोक्ष-पद को विखंडित कर दिया॥

11–12 ॥ हे रमैया राम! तुम हंस हो, तुम मन को प्रकाशित करने वाले माणिक्य हो, परन्तु तुम मेरा रोकथाम नहीं मानते हो और विमोहित होकर मन के ही चक्कर में पड़ जाते हो॥ 13–14 ॥ हे रमता चेतन! तुम जैसा कर्म करते हो वैसा फल पाते हो। मुझे दोष मत दो, क्योंकि मैंने तुम्हें पहले ही सावधान कर दिया है॥ 15–16 ॥

हे असंग चेतन! तूने अपने स्वरूप के भूलवश स्वरूपस्थिति एवं मोक्ष-तत्त्व को पहुंच के बाहर मानकर उसकी बात काट दी और कर्मकांड तथा कल्पित देवी-देवता-पूजन को अपनी पहुंच के भीतर मानकर उन्हीं के बाल-खेल में जीवनभर लगा रहा और सहज-प्राप्त तीर्थ-मूर्ति, रोजा-नमाज, प्रार्थना आदि बाह्याचार से पूर्ण कल्याण का विश्वास कर लिया॥ 17–18 ॥ हे रमैया राम! रामतत्त्व को समझने तथा उसमें स्थित होने को दरकिनार कर तूने रामनाम धन को व्यापार बना डाला, उस अनमोल धन को लादकर भी उसके बोध से जीवनभर वंचित रहा॥ 19–20 ॥ हे रमैया राम! बोझा ढोने वाले अंतःकरण पंचकरूप पांच टट्टू तुम्हारी मान्यताओं के बोझ को लाद ले चले। उसमें सहायक हुईं नौ नाड़ियां रूपी नौ बहंगी तथा दस इंद्रियांरूपी दस बोरे॥ 21–22 ॥ परन्तु हे रमैया राम! उक्त अंतःकरण पंचकरूप बोझा लादने वाले पांचों टट्टू दुर्बल हो गये, फिर तो असंख्य छिद्र भरे इस शरीर को फोड़ डाले॥ 23–24 ॥ अंततः हंस सिर पटककर उड़ चला और जो शरीर-सरोवर कल्याण-साधन होने से तुम्हारा मित्र था, उसे तुम हार चले॥ 25–26 ॥ हे रमैया राम! फिर तो तुम्हारे माने हुए शरीर-सरोवर में आग लगा दी गयी और वह जलकर धूल हो गया॥27–28 ॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे संतो और हे रमता चेतन! सुनो, तुम स्वयं परख लो कि सत्य क्या है और असत्य क्या है, तुमसे न छूटने वाला क्या है तथा छूटने वाला क्या है!॥29–30 ॥

व्याख्या—यह बेलि प्रकरण है। इसमें दो बेलि-छन्द हैं। बेलि का अर्थ होता है लता। माया मानो लता है, जिसने सबको लपेटकर बांध रखा है। तिरपनवें शब्द में सद्गुरु ने कहा है—"बेलि एक त्रिभुवन लपटानी, बाँध ते छूटै नहिं ज्ञानी। कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पण्डित होय सो लेय बिचारा।"

इस ग्रन्थ में 'हंस' की व्याख्या कई जगह कर दी गयी है। अहंसः से अ और विसर्ग लुप्त होकर हंस शब्द बना है जिसका अर्थ होता है 'मैं वह हूं जो मैं चाहता हूं।'[1] मैं शांति चाहता हूं, तो मेरा स्वरूप ही शांत है। हंस प्रसिद्ध सफेद पक्षी है जो मानसरोवर में रहता है। कहावत है कि वह नीर-क्षीर-विवेक करता है। इस जीव में हंस शब्द के शाब्दिक तथा रूढ़, दोनों अर्थ उपयुक्त हैं। जीव स्वयं वह है जो चाहता है और वह ज्ञानस्वरूप होने से नीर-क्षीर विवेकी है। यह चेतन-हंस शरीर-सरोवर का निवासी है। "हंसा सरवर शरीर में" जीव-हंस शरीर-सरोवर में रहता है। सरवर का

1. अहंसः = अहम् + सः—मैं + वह (हूं)।

दूसरा अर्थ है चेतना एवं स्वरूपस्थितिरूपी मानसरोवर। इस दृष्टि से अर्थ होगा कि हे हंस! तुम्हारा मानसरोवर, तुम्हारे विहार एवं विलास का स्थान इस शरीर के भीतर तुम्हारी आत्मचेतना ही है। इस शरीर में दो सुख हैं, एक ऐंद्रिक तथा दूसरा अतीन्द्रिय। ऐंद्रिक-सुख जीव को विमोहितकर संसार में भटका देता है और अतीन्द्रिय-सुख जीव को संसार से मुक्त कर चिरशांति देता है। इन्द्रियों से विषयों का भोग ऐंद्रिक-सुख है, जिसमें पड़कर जीव को केवल भटकाव एवं अशांति मिलती है, और जहां इन्द्रियों का व्यापार तथा मन का भी व्यापार बन्द हो जाता है, उसके आगे निज चेतना का क्षेत्र है। इस दशा में स्थित होने से जो सुख का अनुभव होता है, वह अतींद्रिय है। यह दिव्य है। इसका अनुभव भी इस शरीर में रहते हुए ही हो सकता है। जो साधक इस अतीन्द्रिय-सुख को पूर्णतया पा जाता है उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है।

"जागत चोर घर मूसहिं, हो रमैया राम।" जैसे कोई अपने घर में जाग रहा हो, और चोर उसके घर में चोरी कर उसके धन को ले जा रहे हों तो यह उसकी कायरता है। एक व्यक्ति के घर में चोर घुसे थे। घर का मालिक खाट पर लेटा था और जाग रहा था। उसकी पत्नी भी जाग रही थी। उसने अपने पति को सावधान किया कि घर में चोर घुस आये हैं। पति ने पत्नी से कहा था कि मैं देख रहा हूं, जान रहा हूं। चोर माल लेकर घर से चल दिये, पुनः पत्नी ने उसे सावधान किया था, परन्तु उसने डरवश पुनः अपनी बात दोहरायी कि मैं देखता हूं, जानता हूं। जब चोर माल लेकर चले गये तब घर का मालिक तलवार-बंदूक पटकने लगा। वस्तुतः यह उसकी कायरता थी। वह स्वयं चोरों से डर रहा था। यही दशा मनुष्य की है। उसके हृदय-घर में काम, क्रोध, लोभ, मोहादि चोर घुसकर चोरी कर रहे हैं। जीव जानता है कि मेरे घर में चोरी हो रही है, परन्तु विषयासक्ति के कायरतावश उन्हें खदेड़ नहीं पाता। जीव स्वरूपतः जाग्रतस्वरूप एवं चेतनस्वरूप है। उसमें जानीव दशा है। वह हर समय जानता रहता है; परन्तु साधारण जानना काम नहीं करता। जब वह विषयासक्ति की नींद छोड़कर पूर्णतया जग जाता है तब उसकी दशा एकदम भिन्न हो जाती है। इसके लिए सद्गुरु अगली पंक्ति में कहते हैं—

"जो जागल सो भागल, हो रमैया राम।" जो जागता है वह भागता है। जागने का मतलब है भागना। कोई कहे कि मैं जागता हूं, परन्तु वह भागता नहीं है तो वह जाग कहां रहा है! भागने का मतलब है अपने मनोविकारों को छोड़कर और सीमित स्वार्थ से हटकर आत्मकल्याण और लोककल्याण में लग जाना। आज के प्रगतिशील कहते हैं कि "भागो न, बदलो"। परन्तु यह समझ लो कि सच्चे सन्त इस तरह नहीं भागते हैं कि वे समाज-कल्याण के काम को छोड़ देते हों। सच्चे सन्त अपने छुद्र स्वार्थ को छोड़कर विराट संसार के स्वार्थ एवं कल्याण में लग जाते हैं। यदि कोई ऐसा सन्त हो जो लोक के देखने में कोई जगत-कल्याण का कार्य न करता हो, परन्तु यदि वह पूर्ण साधनसम्पन्न है तो उससे अनेकों को सत्प्रेरणा मिलेगी। इसलिए उसे भी यह माना

जायेगा कि वह समाज को बदल रहा है। समाज केवल वक्तव्य देने से नहीं सुधरता, किन्तु पवित्र आचरणों का आदर्श पाकर सुधरता है। मूल बात यहां यह है कि जो पूर्ण जाग्रत हो जाता है वह मोह-माया से भागता है। महर्षि वेदव्यास शास्त्रों के महान ज्ञानी थे, परन्तु वे जगे नहीं थे, उनके पुत्र शुकदेव कोई शास्त्रज्ञानी नहीं थे, परन्तु वे जगे थे। इसलिए वे भाग खड़े हुए। गौतम बुद्ध के समय में बहुत-से प्रकांड पंडित रहे होंगे, परन्तु वे जहां के तहां पड़े रहे, किन्तु गौतम जग गये थे इसलिए वे भाग खड़े हुए। भर्तृहरि, गोपीचन्द आदि जग गये तो भाग खड़े हुए। ये तो बड़े-बड़े नाम हैं, कितने नाम ऐसे हैं जिनके विषय में हम परिचित नहीं हैं किन्तु वे जगे थे और मोह-माया से भगे थे। इस कथन का इतना ही अर्थ नहीं है कि जो घर-द्वार छोड़कर साधु-संन्यासी हो जाये, मात्र वही जगा है। वस्तुतः जिसके मन से मोह दूर हो जाये वही जगा है। मोह को छोड़ देने वाला ही दुखों से मुक्त होता है तथा संसार के लिए कल्याणकारी सिद्ध होता है।

"सोवत गैल बिगोय, हो रमैया राम" जो सोया वह खोया। सोने का मतलब है इन प्राप्त क्षणभंगुर प्राणी-पदार्थों में आसक्त होना। जहां से हमें क्षण-पल में सदैव के लिए चल देना है वहां के लिए राग-द्वेष करना मानो असावधान होकर सोना है। जागता वही है जो यहां कहीं भी राग-द्वेष नहीं करता। जो सदैव शरीरांत के दिन को देखता है और उसके लिए तैयार बैठा रहता है वह मानो हर समय जागता है। मोह करना सोना है तथा मोह-भंग कर देना जागना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसा व्यक्ति केवल मौत की प्रतीक्षा करता है और दूसरा काम नहीं करता। वह जीवन तथा जगत के लिए महान काम करता है। ऐसी दिव्यदृष्टि वाले की स्थिति सर्वोच्च होती है।

"आजु बसेरा नियरे, हो रमैया राम। काल बसेरा बड़ि दूर, हो रमैया राम।" आज तुम्हारा बसेरा कल्याण के निकट है। यदि तुम आज अपना कल्याण नहीं कर लिये तो कल तुम्हारा बसेरा बड़ी दूर हो सकता है। मनुष्य-शरीर ही कल्याण के निकट है। यह जीव मानव-शरीर में रहकर ही अपना कल्याण कर सकता है। यदि इसने आज यहां असावधानी की और अपनी कल्याण-साधना नहीं कर ली, तो शरीर छूट जाने पर यह पता नहीं किन-किन योनियों में भटकने के लिए चल दे।

कबीर साहेब बड़ी करुणा से कहते हैं "जइहो बिराने देश, हो रमैया राम। नैन भरोगे दूर, हो रमैया राम।" जीव अज्ञानवश बहुत दूर चला जायेगा। दूर चले जाने को दो ढंग से समझ सकते हैं। एक तो कल्याण-साधन योग्य मनुष्य शरीर से बिछुड़कर अन्य खानियों में जाकर वहां नाना दुख सहना मानो दूर जाकर रोना है। समझने का दूसरा ढंग है कि जीव अपने स्वरूप का बोध न पाकर दृश्य-विषयों में उलझ जाता है, यही उसका दूर जाकर दुखी होना है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाये तो अपनी चेतना एवं आत्मा के अलावा देह-गेहादि एवं मनोमय सब बिराना देश है। जीव क्यों रोता है, वह क्यों दुखी होता है, क्योंकि वह अपना चेतन-देश छोड़कर जड़-बिराने देश में

चला जाता है। वह जितना संकल्प-विकल्पों में विलास करता है उतना दुखी रहता है और जितना संसार के प्राणी-पदार्थों में राग-द्वेष करता है उतना उनमें उलझ-उलझकर दुख पाता है। दूर पड़ा नेत्रों में आंसू भर-भरकर रोने का एकमात्र कारण है जड़दृश्यों में भटकाव। जो दृश्यों का राग छोड़कर निजस्वरूप चेतन में स्थित हो जाता है उसके सारे क्लेश समाप्त हो जाते हैं।

"त्रास मथन दधि मथन कियो, हो रमैया राम। भवन मथेउ भरपूरि, हो रमैया राम।" संसार के राग-द्वेष-वश शोक-संताप में मनुष्य का मन पीड़ित होता है। उसके मन में त्रास का मंथन होता है। संसार का सब कुछ क्षणभंगुर है, अतएव जिसका मन उसमें डूबा रहेगा वह निश्चित ही अनेक भय से पीड़ित रहेगा। अतएव मनुष्य के मन में दुख का मंथन होता है, तब वह दधि का मंथन करता है। यहां दधि का अर्थ दही नहीं, किन्तु समुद्र है। मनुष्य संसार-समुद्र का मंथन करता है। अपने इन्द्रिय-सुख और सम्मान-सुख को सुरक्षित रखने तथा उन्हें पाने के लिए वह संसार-समुद्र का मंथन करता है। इन्द्रिय-सुख और सम्मान के लिए संसार में रात-दिन भागा-दौड़ी करना मानो संसार-समुद्र का मंथन करना है। फिर वह 'भवन' को 'भरपूरि' मथता है। भवन है शरीर। यह भूला जीव इन्द्रिय-सुख के लिए अपने शरीर का मंथन करता है। यहां मंथन में सद्गुरु 'भरपूरि' विशेषण लगाते हैं। मनुष्य भोगों में अपने शरीर का अच्छी तरह दोहन करता है और सब प्रकार से क्षीण होता है। परन्तु इन्द्रिय-भोगों में बहादुरी दिखाने वाला आदमी कभी शांति का अनुभव नहीं कर सकता।

"फिरिके हंसा पाहुन भयो, हो रमैया राम। बेधिन पद निर्बान, हो रमैया राम।" उपर्युक्त प्रकार से भोगों तथा संसार के शोक-संताप में उलझे हुए जीव बारम्बार शरीर-संसार के पहुना बनते हैं; क्योंकि उन्होंने मोक्ष-पद का विखंडन किया है। अभिप्राय यह है कि वासनाओं के त्याग से मोक्ष मिलता है, परन्तु मनुष्य ने वासनाओं की वृद्धि करके मोक्ष-कार्य के उलटे काम किया है। इसलिए इसने निर्वाण पद को बेध डाला है, मोक्ष-पथ का उल्लंघन किया है। जीव को मन की वासनाओं से मुक्त होना चाहिए था, तो वह मन की वासनाओं में ही डूब गया है।

"तुम हंसा मन मानिक, हो रमैया राम। हटलो न मानेहु मोर, हो रमैया राम।" हे हंस चेतन! तुम मन को प्रकाशित करने वाले मणि हो। अर्थात जीव ही मन को मानने वाला तथा उसके ऊपर उसका कर्ता-धर्ता है। वह चाहे तो मन को अपने वश में कर सकता है। परन्तु वह तो मूढ़ होकर मन के वेग में ही बहता है। साहेब कहते हैं कि मैं तुम्हें रोकता हूं कि तुम मन की धारा में न बहो, परन्तु तुम मेरी बातें नहीं मानते हो। जीव ने अपने स्वरूप को भूलकर मन को ही सर्वोपरि मान लिया है। मणि प्रकाशमय होती है। उसके आस-पास की वस्तुएं मणि की चमक से ही चमकती हैं। मणि हवा-पानी या किसी वस्तु से बुझने वाली नहीं होती। मणि स्वतः प्रकाशस्वरूप है। इसी प्रकार यह जीव स्वतः ज्ञानमय है। मणि तो एक उदाहरण मात्र है। वस्तुतः देखा जाये

तो मणि जड़ एवं नाशवान है। परन्तु चेतन अविनाशी, शुद्ध-बुद्ध एवं ज्ञानमय है। वह ज्ञान से मन को आलोकित करता है। मन का साक्षी, मन का मानने वाला चेतन जीव मन के ऊपर है। उसे चाहिए कि वह मन का तत्त्वतः द्रष्टा बनकर अपने स्वरूप में शांत हो।

"जस रे कियेहु तस पायेहु, हो रमैया राम। हमरे दोष का देहु, हो रमैया राम।" साहेब कहते हैं कि भाई, हमें दोष मत देना कि आपने मुझे सावधान नहीं किया। हम तो तुम्हें सावधान कर रहे हैं। आज तक जैसे कर्म किये हो वैसे फल पाये हो, आगे भी जैसा करोगे, वैसा पाओगे। यह संसार का अकाट्य नियम है। "अपनी कमाई आप की, ना माई ना बाप की।" हमें गुरुजन सावधान करते हैं, परन्तु हम ऐसे मोहमूढ़ हो जाते हैं कि पतिंगे की तरह संसार की ज्वाला में कूद-कूदकर जलते हैं।

"अगम काटि गम कियेहु, हो रमैया राम। सहज कियेहु विश्वास, हो रमैया राम।" 'अगम' कहते हैं जहां अपनी पहुंच न हो और 'गम' कहते हैं जहां अपनी पहुंच हो। मनुष्य की स्थूल-बुद्धि होने से उसे स्वरूपज्ञान, आत्मतत्त्वचिंतन, स्वरूपस्थिति पहुंच के बाहर लगते हैं। इन्हें वह अगम मानता है; परन्तु तीर्थ-मूर्ति, रोजा-नमाज, प्रार्थना आदि पहुंच के भीतर मानता है। इसलिए अधिकतम मनुष्य न स्वयं निजस्वरूप का विचार करते हैं और न संतों की संगत में इस विषय पर खोज करते हैं। यदि कोई संत इस पर विचार भी देना चाहे तो लोग उसकी बातें काटकर स्थूलबुद्धि की बातें करने लगते हैं। साहेब कहते हैं कि यदि तुम जीवनभर बच्चे ही बने रहना चाहते हो, यदि तुम जीवनभर 'क' माने कबूतर तथा 'ख' माने खरगोश ही पढ़ना चाहते हो, तो तुम्हारा उद्धार कब होगा! बचपन का समय जीवन में थोड़ा होना चाहिए, फिर तो बुजुर्गी आनी ही चाहिए। यह कर्मकांड तथा स्थूल उपासना का समय बहुत थोड़ा होना चाहिए। जीवनभर गुड्डी-गुड्डे खेलते रहना कहां तक बुद्धिमानी है! साहेब कहते हैं कि हे रमैया राम! तुमने आत्मतत्त्व विचार एवं आत्मस्थिति को अगम मानकर छोड़ दिया और केवल कर्मकांड एवं जड़उपासना तथा प्रार्थना में लग गये और सहज, सांसारिक क्रियाओं में जीवनभर उलझे रहे। यह तुम्हारी काहिली है। स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति जिसे तुम अगम मान रखे हो वह अगम नहीं, किन्तु तुम्हारा निज सहजस्वरूप ही है, अतएव वह अति सुगम है। उसकी तरफ न ध्यान देना तुम्हारा दुर्भाग्य है।

"राम नाम धन बनिज कियो, हो रमैया राम। लादेउ बस्तु अमोल, हो रमैया राम।" आत्माराम परम धन है और वह अमोल वस्तु है, यह सच है। परन्तु तुम्हें उसका परिचय नहीं है। तुम केवल राम-नाम को ही बहुत बड़ा मान लिये और उसी को अनमोल धन मानकर उसको व्यापार का विषय बना लिये। जैसे कोई पानी नामक वस्तु, जो द्रव एवं शीतल होती है उसकी न तलाश करे तथा उसे न प्राप्त करे, बस केवल पानी-पानी जपने को ही उसके विषय में बड़ी उपलब्धि मान ले तो यह उसका

दुर्भाग्य है। पानी का अखंड कीर्तन करने से वहां पानी की एक बूंद भी नहीं उपस्थित हो सकती। इसी प्रकार कोई राम-नाम का अखंड कीर्तन करने लगे और जीवनभर करता रहे, परन्तु वह जब तक राम रूपी रत्न के पारखी के पास जाकर उसके विषय में निरख-परख न करेगा, तब तक उसे रामतत्त्व का सच्चा बोध नहीं होगा और जब तक राम का सच्चा बोध नहीं होगा तब तक उसमें स्थिति भी कैसी होगी! इन्द्रिय-मन तथा उनके व्यापार से परे निज चेतनस्वरूप ही राम है; परन्तु लोगों ने तो मन-इन्द्रियों के व्यापार को ही राम मान लिया है।

"पाँच लदनुवाँ लादि चले, हो रमैया राम। नौ बहियाँ दश गोनि, हो रमैया राम।" अंतःकरण, मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार—ये पांच लदनुवां एवं लद्दू घोड़े या टट्टू हैं। सारे भास-अध्यास का बोझा ये ही लादकर चलते हैं। मन से मनन, चित्त से अनुसंधान, बुद्धि से निश्चय तथा अहंकार से करतूति होती है और चारों से संग्रहीत संस्कार अंतःकरण में अध्यस्त हो जाते हैं। शुभाशुभ सारे अध्यासों को ये अंतःकरण-पंचक लादकर चलते हैं। इसमें सहायक होती हैं नौ बहंगियां। बहंगी कहते हैं कांवर को जो बांस का फट्ठा होता है। दोनों तरफ छींके लटकाकर उस पर माल ढोया जाता है। माल वहन करने के कारण उसे बहंगी कहते हैं। नौ नाड़ियों से ग्रथित यह काया मानो नौ अवयवों से बनी बहंगी है और पांच ज्ञानेन्द्रियां—आंख, नाक, कान, जीभ तथा चमड़ी और पांच कर्मेन्द्रियां—हाथ, पैर, मुख, गुदा तथा उपस्थ—ये दस गोनियां, बोरे एवं थैले हैं। इन्हीं पर नाना संस्कारों, वासनाओं एवं अध्यासों के माल ढोये जाते हैं। जीव इन्हीं पर सारे विषयों की वासनाएं ढोता है। और कहना न होगा कि निजात्मतत्त्व से विमुख होकर राम-रहीम के संस्कार भी मनुष्य इन्हीं अन्तःकरण आदि साधनों से ढोता रहता है। जब तक राम को केवल मन-वाणी का विषय बनाये रखा जायेगा तब तक वह शरीर-मन का अध्यास ही होगा। जब आत्मतत्त्व के रूप में राम का बोध हो जायेगा तब मन, बुद्धि, वाणी से परे निजस्वरूप में स्थिति होगी।

"पाँच लदनुवाँ खाँगि परे, हो रमैया राम। खाखर डारिनि फोरि, हो रमैया राम।" एक दिन शरीर जीर्ण होता है और एक दिन नष्ट भी होता है। अतएव शरीर के साथ शरीर के भास-अध्यास भी खो जाते हैं। जब शरीर बूढ़ा होता है तब पांचों लद्दू घोड़े कमजोर हो जाते हैं। मन दृढ़ता से कुछ सोच नहीं पाता, चित्त देर तक किसी विषय का अनुसंधान नहीं कर पाता, बुद्धि का निश्चय ढीला हो जाता है, अहंकार का कार्य करतूति भी नहीं हो पाता, अन्तःकरण से बातें भूल जाती हैं। मन-वाणी के व्यापारस्वरूप राम भी खो जाता है। यह शरीर तो असंख्य छिद्रों वाला होने से खांखर है। यह एक दिन फूट जाता है। जीव के साथ तो अन्य कुछ भी नहीं जाता। जीव के साथ तो केवल जीव ही जाता है। जिसने पहले ही समझ लिया कि यह जीव ही राम है तो वह राम को पा गया, क्योंकि वह स्वयं है। परन्तु यदि उसका राम केवल मन-वाणी का विषय रहा तो वह शरीर के साथ ही समाप्त हो गया।

"शिर धुनि हंसा उड़ि चले, हो रमैया राम। सरवर मीत जो हारि, हो रमैया राम।" जहां शरीर-खांखर फूटा कि चेतन हंस उड़ चला। हंस का यह मानव-शरीर मानसरोवर था। यह कल्याण-साधन होने से जीव का मित्र तुल्य था। परन्तु जीव ने इसका आदर न किया। इसे साधना में न लगाकर भोग में लगा दिया। इसलिए यह मानो इसे हार गया। जैसे युधिष्ठिर अपना सर्वस्व जुआ में हार गये और वन-वन भटके, वैसे यह जीव विषयों में फंसकर मोक्ष-साधन मानव-देह को हार जाता है। यह अपने दुरुपयोग से मित्र को शत्रु बना लेता है। जो शरीर कल्याणदायी है उसे बन्धनदायी बना लेता है।

"आगि जो लागी सरवर में, हो रमैया राम। सरवर जरि भौ धूरि, हो रमैया राम।" फिर तो हंस के निकल जाने पर शरीर-सरोवर में आग लगा दी जाती है और यह मिनटों में जलकर राख हो जाता है। सारी अहंता-ममताओं का केन्द्र शरीर था और वही राख हो गया, तो जीव जो कुछ मान रखा था उसमें क्या बचा! शरीर गया तो मानो उसके लिए दुनिया गयी। "कहहिं कबीर सुनो हो मुनिया, आप मरे पीछे डूबि गई दुनिया।" परन्तु जीवनभर मनुष्य की आंखों पर पट्टी बंधी रहती है। वह देह तथा देह सम्बन्धी प्राणी-पदार्थों एवं मान्यताओं को सत्य मानते हुए उन्हीं के पीछे पागल बना भटकता रहता है। देखते-देखते एक दिन ऐसा आता है कि उसका शरीर इस संसार-समुद्र में खो जाता है और उसी के साथ उसका अपना माना हुआ सब कुछ खो जाता है।

"कहहिं कबीर सुनो संतो, हो रमैया राम। परखि लेहु खरा खोट, हो रमैया राम।" सद्गुरु कबीर इस लंबे पद के अन्त में कहते हैं कि हे बटोही जीव! हे रमता राम! तुम स्वयं खरा और खोट को परख लो। देखो, जीव खरा है तथा शरीर खोट है, राम खरा है और काम खोट है। तुम्हारी अपनी आत्मा ही खरा है और जो कुछ अनात्म एवं जड़ है सब खोट है। ये अनेक शब्द कहे गये, परन्तु जीव, राम, आत्मा एक चेतनतत्त्व के नाम हैं जो मेरा स्वरूप है। यह निजस्वरूप चेतन ही खरा है, शेष सब खोट है। अतएव सबका मोह छोड़कर निजस्वरूप चेतन में स्थित होना चाहिए।

शास्त्र-प्रमाण के भटकाव से बचो

बेलि-2

भल सुमृति जहँड़ायेउ, हो रमैया राम॥ 1॥
धोखे कियेउ विश्वास, हो रमैया राम॥ 2॥
सो तो है बन्सी कसी, हो रमैया राम॥ 3॥
सो रे कियेहु विश्वास, हो रमैया राम॥ 4॥
ई तो है वेद शास्त्र, हो रमैया राम॥ 5॥

गुरु दीहल मोहि थापि, हो रमैया राम॥ 6॥
गोबर कोट उठायेउ, हो रमैया राम॥ 7॥
परिहरि जैबेहु खेत, हो रमैया राम॥ 8॥
मन बुधि जहवाँ न पहुँचे, हो रमैया राम॥ 9॥
तहाँ खोज कैसे होय, हो रमैया राम॥10॥
यह सुनि के मन धीरज धरहु, हो रमैया राम॥11॥
मन बढ़ि रहल लजाय, हो रमैया राम॥12॥
फिर पाछे जनि हेरहु, हो रमैया राम॥13॥
कालबूत सब आहि, हो रमैया राम॥14॥
कहहिं कबीर सुनो सन्तो, हो रमैया राम॥15॥
मन बुद्धि ढिग फैलायउ, हो रमैया राम॥16॥

शब्दार्थ—भल= अच्छी तरह। सुमृति= स्मृति-ग्रन्थ, धर्मशास्त्र। जहँड़ायेउ= ठगाया, हानि उठाया। बन्सी= मछली फंसाने की कटिया। कसी= बंधन। थापि= आरोपित कर देना, थोप देना, विश्वास कराना, मर्यादा कर देना। कोट= गढ़, किला। खेत= रणक्षेत्र, मैदान। बढ़ि= बढ़ा हुआ। हेरहु= खोजो। कालबूत= कच्चा भराव, नकली।

भावार्थ—हे रमता राम चेतन! हे मानव! तूने धर्मशास्त्रों के स्वतः प्रमाण के धोखे में पड़कर अपने आप को अच्छा ठगाया तथा खोया है। वस्तुतः तुमने धोखे में विश्वास कर लिया है॥ 1-2॥ परन्तु तुमने जिसमें विश्वास किया है वह तो चारे का प्रलोभन देकर लोहे के कांटे में मछली को फंसा लेने-जैसा है। अर्थात तुम मिथ्या प्रलोभन देकर फंसा लिये गये हो॥ 3-4॥

भक्तों ने कहा—हे महाराज! यह तो वेद-शास्त्रों की बातें हैं। गुरुओं ने कहा कि इन पर विश्वास करो। उन्होंने हमें शास्त्रों की मर्यादा में बांध दिया है॥ 5-6॥

सद्गुरु ने कहा—तुम तो शास्त्रों की दुहाई देकर उसी प्रकार अपना उद्धार सोचते हो जैसे कोई राजा अपने हमलावर-शत्रुओं से बचने के लिए गोबर का परकोटा उठाये। हे बटोही मनुष्य! ऐसी स्थिति में तुम्हें रणक्षेत्र छोड़कर भागना पड़ेगा॥ 7-8॥

हे सत्य-इच्छुक रमता राम! जहां मन और बुद्धि नहीं पहुंचती है वहां खोज कैसे की जा सकती है? यह सुनकर मन में धैर्य पकड़ो। तुम्हारी आत्मा से अलग न राम है, न रहीम है, न ईश्वर है और न ब्रह्म है॥ 9-11॥

उक्त बातें सुनकर भक्तों का कल्पना में फैला हुआ मन लज्जित हो गया॥ 12॥
(भक्तों के निरुत्तर हो जाने पर कबीर साहेब ने पुनः उन्हें समझाया—)

हे पथिक चेतन राम! अब पुनः लौटकर कुछ मत खोजो, क्योंकि तुम्हारी अपनी आत्मा से अलग जो कुछ तुम्हें मिलेगा वह सब नकली वस्तुएं हैं जो छूट

जायेंगी॥ 13–14॥

कबीर साहेब ने कहा कि हे संतो और हे रमैया राम! सुनो, अब तुम अपने मन और बुद्धि को अपने पास ही फैलाओ। अर्थात अब तुम बाहर कुछ न खोजकर सदैव आत्म–अनुसंधान करो॥ 15–16॥

व्याख्या—कबीर साहेब की पंक्ति–पंक्ति में क्रांति है, किन्तु कहीं–कहीं वह सघन है। इस बेलि में भी सघन है। इस बेलि की पहली ही पंक्ति में विदग्धात्मक स्वर है। वे कहते हैं कि हे मनुष्य! तू धर्मशास्त्रों के स्वतः प्रमाण के धोखे में विश्वास कर अपने को ठगा लिया है। धर्मशास्त्र किसी संप्रदाय एवं मजहब के हों, उन्हें आंख मूंदकर मानने पर उनकी अच्छी बातों के साथ अनर्थकारी बातें भी पल्ले पड़ेंगी। कबीर साहेब हिन्दू–परम्परा से जुड़े थे, इसलिए वे अधिकतम वेद–शास्त्र तथा भारतीय चिन्तनधारा के शास्त्रों के ही नाम लेते हैं चाहे समर्थन में और चाहे खंडन में। वैसे वे बीच–बीच में वेद के साथ कितेब कह देते हैं। वस्तुतः वे हिन्दू परम्परा में जुड़े होने से ज्यादा हिन्दू मान्यता तथा शास्त्र के नाम लेते हैं, परन्तु उनके कहने का अर्थ यह होता है कि संसार के सभी मत–मजहबों एवं धर्मशास्त्रों में कोई भी स्वतः प्रमाण नहीं है। किसी बात की प्रामाणिकता उसकी जांच–परख के बाद ही मानी या नहीं मानी जा सकती है।

नाना मत के गुरुओं एवं पुरोहितों ने अपने धर्मशास्त्रों पर ईश्वर की दुहाई देकर जनता से उनकी सारी बातें सत्य मानने की अपील की है। उन्होंने समाज को यह झांसा दिया है कि हमारे शास्त्र किसी अतिमानवीय शक्ति ईश्वर द्वारा भेजे गये या कहे गये हैं या ऐसे आप्त पुरुषों द्वारा कहे गये हैं जो पूर्णज्ञानी एवं सर्वज्ञ थे। उनके कथन में कुछ झूठ हो ही नहीं सकता है। इसलिए हमारे शास्त्रों पर थोड़ा भी विचार न करो, किन्तु उनकी सारी बातें ज्यों–की–त्यों मान लो।

कुछ ही संप्रदायों को छोड़कर दुनिया के शेष सभी मजहबों एवं परंपराओं में तथाकथित ईश्वर तथा देवताओं को खुश करने के लिए जीव–हत्या का विधान है जो महापाप है। परन्तु यह इसलिए चलता है कि इसके लिए ईश्वरीय या आप्त–प्रमाण वचन का झांसा दिया जाता है। मेरे मजहब के आदमी आस्तिक, दीनदार तथा पवित्र हैं और दूसरे मजहबों के आदमी नास्तिक, बेदीन तथा अपवित्र हैं, क्योंकि ऐसा हमारी इलहामी–किताबों तथा ईश्वरीय–शास्त्रों में लिखा है।

जन्म एवं कुल से ही विविध वर्ग के लोग छूत या अछूत होते हैं, ऊंच या नीच होते हैं, क्योंकि ऐसा ही हमारे धर्मशास्त्रों में लिखा है। प्रभु–वाणी ही ऐसी है। प्रभु ने ऐसा कहा है। यह ईश्वर–वचन, खुदाई–कलाम तथा आप्तवाणी ऐसा धोखा है कि इसी की आड़ में विविध मजहब के लोग आम जनता को दिग्भ्रमित कर उनका बौद्धिक तथा अन्य प्रकार का शोषण करते हैं। ईश्वरीय–वचन तथा आप्त–वचन का धोखा जब एक बार किसी के दिमाग पर बैठा दिया जाता है तब उसे तब तक मूढ़ बनाया जाता है

जब तक कि वह इस धोखे से न निकले।

मनुष्य के अलावा कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिसने कोई किताब संसार में भेजी हो। यदि कोई कहता है कि हमारी किताब मानवेतर शक्ति द्वारा लिखी या भेजी गयी है तो वह छल-कपट से पूर्ण है। अब रहा आप्त-वचन। आप्तपुरुष उसे कहते हैं जो अपने जीवन में पूर्ण सदाचारी तथा ईमानदार है। परन्तु उनको सर्वज्ञ मान लेना भूल है। कोई पूर्ण सदाचारी तथा ईमानदार है तो वह चाहे जिस मत-मजहब का हो, मानवता के लिए वरदानस्वरूप है, पूज्य है। परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि वह भी सर्वज्ञ नहीं है। उसकी हर बात बिना जांचे-परखे मानने की बात करना भूल है। एक कवि ने बड़ा अच्छा लिखा "कोई जाहिद (संयमी) है, परन्तु रास्ता भूला है, तो मैं उसका साथी कैसे बनूं; क्योंकि वह कहता है कि अल्लाह है और मैं कहता हूं कि अल्लाह मैं ही हूं।"[1] एक ऐसा आदमी है जो पूर्ण संयमी है, सच्चा है, ईमानदार है और उसका मन निरंतर संतुष्ट है, अर्थात वह जीवन्मुक्त है; परन्तु यदि वह साइकिल का पंचर बनाना नहीं जानता है तो उसके विषय में उसके वचन कैसे प्रमाण माने जा सकते हैं! इसलिए जिसे आप्त[2] पुरुष कहते हैं उसकी बातों को भी जो समझ में न आये जांच-परख करने के बाद ही स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए। जो बात तर्क, बुद्धि, युक्ति, विश्व के नियमों तथा अनुभव में न आये उस पर पुनर्विचार करना और उसकी जांच-परख करना अति आवश्यक है। संसार में कोई एक भी पुस्तक एवं शास्त्र स्वतः प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए, किन्तु सभी बातों पर विचार करना चाहिए।

शास्त्रों को आदर न देना मानो अपने तथा मानवता के लिए घात करना है। उन्हें चोट पहुंचाकर अपनी ही हानि करना है। परन्तु यदि हम ईश्वर तथा आप्त की दुहाई देकर शास्त्रों की हर बात सिरे से स्वीकारते हैं तो मानो खाई में गिरते हैं। इसलिए हमें सभी मजहबों के धर्मशास्त्रों का आदर करते हुए उनकी बातों पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जांच-परख करना चाहिए। इसी में सबका आदर है, सत्य का बोध है और सबका कल्याण है।

सद्गुरु कहते हैं कि बटोही मानव! तूने धर्मशास्त्रों की सही-गलत सारी बातों पर विश्वास कर अपने आप को धोखे में डाल दिया और ठगा दिया। परन्तु यह समझ लो कि जहां गुरु तथा पुरोहित लोग युक्ति और विवेक से न समझाकर केवल स्वतः प्रमाण के जोर से समझा रहे हैं वहां दाल में काला है। वहां असत्य है, हिंसा है और धोखा है। देखो, बधिक-मछुवारा बंसी में चारा लगाकर उसे पानी में डालता है। वह

---

1. जाहिदे गुमराह का मैं किस तरह हमराह हूँ।
   वह कहे अल्लाह है और मैं कहूँ अल्लाह हूँ॥
2. आप्त का अर्थ है प्राप्त या पहुंचा हुआ।

मछलियों को धोखा देता है कि मैं तुम्हें चारा खिला रहा हूं। परन्तु तथ्य यह होता है कि मछलियां चारे के लोभ में उसे अपने मुख में ले लेती हैं और चारे के भीतर रहे हुए लोह के कांटे मछलियों के गलफड़ को बेधकर उन्हें फंसा लेते हैं और इस प्रकार मछलियां मारी जाती हैं। धर्मशास्त्रों की दुहाई देकर ऐसा ही किया जाता है। इसलिए साहेब कहते हैं कि हे मनुष्य! तूने जिसमें केवल विश्वास किया है और विवेक का आश्रय नहीं लिया है, वह 'बंसी कसी' है। अर्थात वह तेरे लिए बंसी-जैसा फंदा है।

उक्त तर्कयुक्त बातें सुनकर शास्त्रों के भक्त लोगों ने अपनी भावना का बयान दिया कि ये तो वेद-शास्त्रों की बातें हैं, ये ईश्वरीय एवं खुदाई बातें हैं, आप्त वचन हैं, इन पर हम थोड़ा भी विचार नहीं कर सकते। यदि इन पर हम विचार करते हैं तो नास्तिक, बेदीन, काफिर एवं अपवित्र हो जायेंगे। गुरुओं ने इन शास्त्रों की बातें हमारे ऊपर थोप दी हैं। उन्होंने कह दिया है कि यह धर्मशास्त्र ईश्वर-वाणी है, आप्त-वचन है। इसे इनकार न करना, अन्यथा नरक में जाओगे। तो महाराज! हम शास्त्रों को स्वतः प्रमाण मानते हैं। उन पर विचार नहीं करते।

कबीर साहेब उक्त लोगों को फटकारते हुए समझाते हैं कि तुम लोग वैसे नकली ज्ञान से अपनी रक्षा चाहते हो जैसे किसी राजा पर उसका हमलावर शत्रु हमला करने वाला हो और यह बात उस राजा ने सुन ली हो, तो वह अपने नगर के चारों तरफ गोबर की दीवार का परकोटा उठवाये कि इससे हमारी शत्रु के हमले से रक्षा होगी, तो वह राजा कितना नादान है! गोबर की दीवार को ढहाने में कितनी देर लगती है! जैसे गोबर का किला बेदम है वैसे ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए यह बात बेदम है कि यह अमुक शास्त्र में लिखी है इसलिए सत्य है। लोग बातें करते समय कहते हैं कि साहेब, जरा ध्यान दीजिए, यह बात अमुक शास्त्र में लिखी है, यह प्रभु-वचन है, इसे कैसे नहीं मानोगे! वस्तुतः हमें यह कभी नहीं सोचना या कहना चाहिए कि यह बात कहां लिखी तथा किसने कही है; किन्तु यह सोचना चाहिए कि क्या लिखी है तथा क्या कही है! हजारों शास्त्र-वचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते। गोबर के परकोटे की आड़ से यदि हमलावरों से युद्ध करना चाहोगे तो समझ लो कि तुम्हें रणक्षेत्र से भाग खड़ा होना पड़ेगा। जो विवेक तथा अनुभव को छोड़कर शास्त्रों के अंध-प्रमाणों पर बात करेगा उसे सत्संग छोड़कर भाग खड़ा होना पड़ेगा। वह तो निर्णय से मुख छिपाने वाला होगा। अंधप्रमाण का पुछलग्गू निर्णय से कतराता है।

"मन बुधि जहवाँ न पहुँचे, हो रमैया राम। तहाँ खोज कैसे होय, हो रमैया राम।" कई शास्त्र कहते हैं कि आत्मा से अलग परमात्मा है और उस परमात्मा में मन-बुद्धि की पहुंच नहीं है। अर्थात हम उसे मन तथा बुद्धि से नहीं जान सकते। इस प्रकार के प्रमाण तो शास्त्रों में बहुत हैं, परन्तु यहां एक देना काफी होगा। केन उपनिषद् का ऋषि कहता है—"वहां न आंखें पहुंचती हैं, न वाक् पहुंचता है, न मन पहुंचता है और न हम उसे जानते हैं। हम नहीं समझ पाते कि शिष्यों को उसका उपदेश कैसे

करें! वह ज्ञात तथा अज्ञात वस्तु से परे है। बस यही कह सकते हैं कि हम उसे अपने पूर्वजों से ऐसा ही सुनते आये हैं।"[1]

साहेब कहते हैं कि मनुष्य के पास बाहर की किसी भी वस्तु को जानने के लिए मन-बुद्धि आदि स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियां ही साधन हैं। इनसे जो कुछ जानने में आता है वह सब जड़ विषय है। इसीलिए कहा जाता है कि परमात्मा मन-बुद्धि से नहीं जाना जा सकता है। मन-बुद्धि की उसमें पहुंच ही नहीं है। साहेब कहते हैं कि सारी खोज का साधन आंख आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा मन-बुद्धि आदि सूक्ष्म इन्द्रियां हैं। यदि इनसे परमात्मा की खोज नहीं होती है तो परमात्मा का ज्ञान कैसे होगा? उसकी खोज कैसे होगी?

व्यक्ति की आत्मा एवं चेतनस्वरूप भी मन-बुद्धि से परे है, परन्तु वह तो मन-बुद्धि का प्रकाशक है। उसे जानना नहीं है किन्तु वही सबको जानता है। परन्तु जब आत्मा से अलग परमात्मा की कल्पना की जाती है तब यह तर्क स्वाभाविक सामने आता है कि वह कैसे मिलेगा! जो मन-बुद्धि से जाना जायेगा वह तो जड़ माया होगा तब उसे किस साधन से जाना जायेगा! सद्गुरु कहते हैं कि मनुष्य के पास बाहरी वस्तु की खोज करने का साधन मन-बुद्धि ही है और यदि वह उनसे नहीं खोजा जा सकता है, तो वह मनुष्य को मिल भी नहीं सकता। फिर वह यदि कहीं हो भी तो उससे मनुष्य की आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। और यह भी सच है कि जो मन-बुद्धि में आता है वह पंचविषय-दृश्य है।

साहेब कहते हैं कि उक्त निर्णय सुनकर अपने आप में धैर्य धारण करो। तुमसे अलग कहीं कोई ऐसा परमात्मा नहीं है जो तुम्हें मिलेगा और तुम्हें कुछ देगा। तुम स्वयं परमात्मा हो। तुम सारे विकारों को छोड़ दो तो बस तुम्हें बाहर से कुछ नहीं चाहिए। तुम्हें केवल इच्छाएं छोड़नी हैं; कुछ पाना नहीं है। न तुम्हें परमात्मा पाना है, न मोक्ष पाना है, न शांति पाना है। तुम्हारे मन की सारी इच्छाएं छूट जाने पर तुम स्वयं परमात्मा हो, मुक्त तथा शांत हो। इसलिए तुम उक्त निर्णय सुनकर अपने आप में धैर्य पकड़ो, स्थिर होओ। तुम्हारा अधैर्य, तुम्हारी इच्छाएं, तुम्हारा निजस्वरूप का अज्ञान ही तुम्हें भटका रहे हैं। अतएव तुम अधैर्य, इच्छाएं तथा अज्ञान छोड़ो, तुम अपने आप में तृप्त हो जाओगे।

"मन बढ़ि रहल लजाय, हो रमैया राम।" उक्त बातें सुनकर भक्तों का मन लज्जित हो गया। उन्होंने सोचा कि हम शास्त्रों की दुहाई देकर तथा अलग परमात्मा खोजकर बहुत गलत कर रहे थे। साहेब ने ठीक समझाया है। ऐसा सत्य-द्रष्टा दुर्लभ

---

1. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे॥ अनुक्रमणिका (केन उपनिषद् 1/3)

है। ऐसे गुरु के चरणों में सर्वस्व निछावर करना चाहिए। इतना निष्पक्ष एवं सत्यज्ञाता गुरु परम वंदनीय एवं श्रद्धेय हैं।

साहेब ने पुनः उन भक्तों से कहा "फिर पाछे जनि हेरहु, हो रमैया राम। कालबूत सब आहि, हो रमैया राम।" हे बटोही! यहां से जाकर, इन सत्य निर्णयों को भूलकर पीछे फिर न बाहर ईश्वर खोजने लगना! तेरी आत्मा एवं चेतना से अलग ईश्वर-परमात्मा सब कालबूत है, कृत्रिम है, नकली है। तुम्हारी आत्मा से अलग परमात्मा केवल मन से बनाया हुआ है, इसलिए नकली है। अतएव बाहर का नकली परमात्मा छोड़ो और स्वस्वरूप परमात्मा में विश्राम करो।

"कहहिं कबीर सुनो सन्तो, हो रमैया राम। मन बुद्धि ढिग फैलायउ, हो रमैया राम।" कबीर साहेब ने इस पद के अन्त में कहा कि हे संतो तथा हे रमताराम बटोही जीवो! तुम सब आगे के लिए सावधान रहना और अपने मन तथा बुद्धि को अपने पास फैलाना। अर्थात अपने मन-बुद्धि का उपयोग बाहरी काल्पनिक वस्तुओं की प्राप्ति की दुराशा में न करना, किन्तु आत्म-अनुसंधान में करना। यह जीव, यह आत्मा ही मन-बुद्धि का प्रकाशक है, परन्तु मन-बुद्धि से उलटकर इनसे आत्म-शोधन में सहायता मिलती है। साहेब कहते हैं कि तुम अपने मन और बुद्धि का उपयोग व्यर्थ की बातों में न करो, किन्तु अपने कल्याण में करो। मन-बुद्धि ढिग फैलाने का मतलब यही है कि उनसे आत्म-उद्धार की बातें सोची जायें।

फल छन्द

कैसा मिला सत्संग फल,
महिमा अमित को कहि सके।
जानत हृदय भाविक सदय,
गुरुदेव यश वाणी रुके॥
निज नयन मन शिर नम्र उर,
सेवा व भक्ती में जुटे।
तन मन व धन तृण अर्पि फल,
अविनाशि पद में अब डटे॥

चौपाई

जेहि दर्शन से जनम जनम के।
विगत क्षुधा अब शान्ति सदन के॥
स्वतः राम अभिराम रहन के।
सहित विवेक मनन सुवचन के॥

बिरहुली

हेतु छन्द

इस नित अनादि प्रवाह जग की,
मानि उत्पति जीव ये।
परब्रह्म ईश खुदाय कर्ता,
कब मिलेंगे पीव ये॥
संयोग माहि वियोग भय,
जाने नहीं भ्रम कीव ये।
भव-भय विरह नाशक बिरहुली,
करु श्रवण लहु घीव ये॥

दोहा

भव-विरही भव-बीज को, करै बिरहुली दग्ध।
सो विचारि पद लेहु जिव, अब न लहहु भव बग्ध॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

नवम प्रकरण : बिरहुली

तुम्हारा लक्ष्य तुमसे बाहर नहीं है

बिरहुली-1

आदि अन्त नहिं होते बिरहुली। नहिं जर पल्लव डार बिरहुली॥ 1॥
निशि बासर नहिं होते बिरहुली। पौन पानि नहिं मूल बिरहुली॥ 2॥
ब्रह्मादिक सनकादिक बिरहुली। कथि गये योग अपार बिरहुली॥ 3॥
मास असारे शीतल बिरहुली। बोइनि सातों बीज बिरहुली॥ 4॥
नित गोड़ै नित सींचै बिरहुली। नित नव पल्लव डार बिरहुली॥ 5॥
छिछिलि बिरहुली छिछिलि बिरहुली। छिछिलि रहल तिहुँलोक बिरहुली॥ 6॥
फूल एक भल फुलल बिरहुली। फूलि रहल संसार बिरहुली॥ 7॥
सो फुल लोढ़े सन्त जना बिरहुली। बन्दि के राउर जाय बिरहुली॥ 8॥
सो फल बन्दे भक्त जना बिरहुली। डसिगौ बैतल साँप बिरहुली॥ 9॥
विषहर मन्त्र न मानै बिरहुली। गारुड़ बोले अपार बिरहुली॥10॥
विष की क्यारी तुम बोयहु बिरहुली। अब लोढ़त का पछिताहु बिरहुली॥11॥
जन्म जन्म यम अन्तरे बिरहुली। फल एक कनयर डार बिरहुली॥12॥
कहहिं कबीर सच पाव बिरहुली। जो फल चाखहु मोर बिरहुली॥13॥

शब्दार्थ—आदि= प्रारम्भ। अन्त= समाप्ति। बिरहुली= सर्पिणी (बिरहुला= सर्प), परन्तु यहां बिरहुली का अर्थ है प्रिय के वियोग से पीड़ित विरही। जर= जड़। डार= शाखा। मूल =कारण। मास असारे= आषाढ़ महीना, मानव शरीर। सातों बीज= शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, मन तथा अहंकार। छिछिलि= फैल गया। फूल एक= एषणा, वासना। लोढ़े= तोड़ते हैं। बन्दि= वंदनीय, सम्मानित। राउर= श्रेष्ठ। बैतल= पागल। विषहर मंत्र= विष का प्रभाव हरने वाला मंत्र, सच्चा ज्ञान। गारुड़= सांप का विष दूर करने वाला मंत्र, (गारुड़ी= सांप का जहर उतारने वाला, विष-वैद्य)। लोढ़त= तोड़ते, लुनते। यम= वासना। अन्तरे= दूर। कनयर= कनेर,

पांच प्रकार के फूलों वाले कनेर पेड़ होते हैं—उज्ज्वल, काला, लाल, पीला और गुलाबी; उज्ज्वल कनेर के फूल और जड़ घोटकर पिलाने से सर्प-विष दूर होता है। सच= सत्य, स्वरूपज्ञान।

भावार्थ—हे जीव! तुम्हारा न आरम्भ है और न नाश है। तुम निर्विकार हो, इसलिए तुम्हारा कोई दूसरा कारण एवं जड़ नहीं है और न तुम्हारी अन्य शाखा है न पल्लव। अर्थात न तुम किसी से पैदा हुए हो और न तुमसे अन्य कुछ पैदा हुआ है॥ 1॥ तुम्हारे देहातीत शुद्ध चेतनस्वरूप में न दिन है, न रात है, न जगत के कारणभूत बीज हैं, न पवन है और न पानी है॥ 2॥ निजात्म तत्त्व को पाने के लिए ब्रह्मादि-सनकादिकों ने असंख्य योग-प्रक्रियाओं का वर्णन किया है॥ 3॥ जैसे आषाढ़ महीने में पानी बरसने पर लोग खेतों में बीज बोते हैं, वैसे जीव मानव-शरीर रूपी कर्म-भूमिका में पांचों विषय, मन तथा अहंकार ये सातों बीज बोता है। अर्थात अहंता-ममतापूर्वक पांचों विषयों का व्यापार करता है॥ 4॥ नाना कर्मों द्वारा यह अंतःकरणरूपी खेत मानो रोज गोड़ा और सींचा जाता है और इसमें संसार विस्तार के नित्य नयी-नयी शाखाएं तथा पल्लव-पत्र आते हैं॥ 5॥ यह कर्मों का वृक्ष मन, वाणी तथा शरीर रूपी तीनों लोकों में फैल जाता है॥ 6॥ इस कर्म-वृक्ष में एषणा एवं वासना का एक फूल खिलता है। विचारकर देखिए तो संसार में सबके मन-उपवन में यही फूल खिला है॥ 7॥ संतजन इस फूल को तोड़ देते हैं इसलिए वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा से रहित होकर कृतार्थ हो जाते हैं और जगत में श्रेष्ठ और वंदनीय होकर मुक्त हो जाते हैं॥ 8॥ परंतु अपने से अलग परमात्मा मानकर उसके विरह में पीड़ित भक्त लोग मानो उस वासना-फूल की वंदना करते हैं। भले परमात्मा पाने की वासना है, परंतु है तो अपनी आत्मा से अलग की वासना ही। अतएव उस वासना-फूल में से जड़ाध्यास रूपी पागल-सांप निकलकर उन्हें काट लेता है॥ 9॥ यद्यपि विवेकी पारख की अपार वाणी बोलते हैं, परंतु विष को दूर करने वाला मंत्र उनको नहीं लगता जो अलग परमात्मा मानकर उसकी वियोगजनित पीड़ा से व्यथित हैं॥ 10॥ हे विरही जीवो! तुमने निजस्वरूप से भिन्न कुछ भी पाने की वासना बनाकर मानो क्यारी में विष के बीज बो दिये हैं। अब उनके फूल-फल चुनने में पश्चाताप क्या करते हो!॥ 11॥ हे विरही जीवो! वासनाओं ने तुम्हें जन्म-जन्मांतरों से निजस्वरूपस्थिति से दूर ही किया है। स्वरूपज्ञानपरक निर्णय वाणी कनेर वृक्ष की तरह कड़वी होती है, परंतु उसका फल (जड़) ही सर्प-दंस का विष दूर कर सकता है॥ 12॥ कबीर साहेब कहते हैं कि हे विरही जीवो! तभी सत्य का अमृतजीवन पाओगे जब मेरा कड़वा फल चखोगे॥ 13॥

व्याख्या—जीव अपने स्वरूप को न समझकर भटकता है। वह अपना प्रिय, अपना परमात्मा अपनी आत्मा से अलग मानकर उसके लिए पीड़ित होता है। प्रिय के वियोगजनित पीड़ा को ही विरह कहते हैं और ऐसा विरह जिसे हो, उसे विरही कहते

हैं। जैसा कि शब्दार्थ में बताया गया है कि बिरहुली का अर्थ होता है सर्पिणी और बिरहुला का अर्थ सर्प। परन्तु यहां बिरहुली का अर्थ है जो विरह-सर्प से डंसा जाकर पीड़ित है वह विरही भक्त।

साहेब कहते हैं कि हे विरही भक्तो, परमात्मा को अपनी आत्मा से अलग मानकर उसके भ्रमजनित वियोग से पीड़ित होकर भटकने वालो! तुम जरा अपनी तरफ देखो। तुम स्वयं पूर्णकाम हो। तुम्हें बाहर से कुछ नहीं चाहिए। "आदि अन्त नहिं होते बिरहुली। नहिं जर पल्लव डार बिरहुली।" हे जीव, न तुम्हारा आदि है और न अन्त। न तुम्हारी कभी शुरुआत हुई है और न कभी आखिर होगा। तुम सदा से हो और सदा रहोगे। तुम अनादि एवं अनंत हो। तुम्हारी कोई दूसरी जड़ नहीं है। तुम्हारा कोई दूसरा मूल नहीं है और न तो तुम दूसरे के मूल हो। न तुम्हारी कोई शाखा है और न पल्लव। अर्थात न तुम किसी से हुए हो और न तुमसे कोई होने वाला है। तुम नित्य, अनादि, अनंत, अजर, अमर, अविकार, शुद्ध-बुद्ध चेतन हो।

श्रुति के ऋषि भी कहते हैं "यह ज्ञानवान आत्मा न जन्मता है और न मरता है तथा न किसी से कोई पैदा होता है। यह तो अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नष्ट होने पर यह नष्ट नहीं होता।"[1]

इतना ही नहीं, "निशि बासर नहिं होते बिरहुली। पौन पानि नहिं मूल बिरहुली।" रात, दिन, पवन, पानी तथा बीज, कुछ भी तुम्हारे स्वरूप में नहीं है। देहेंद्रिय संघात में रात-दिन का बोध होता है। इनका संबंध शुद्ध चेतन से कुछ भी नहीं है। जब साधक मन को समेटकर निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है, वहां ही रात-दिन का भास नहीं होता, फिर देहेंद्रिय संघातरहित शुद्ध चेतन में रात और दिन तथा उनमें होने वाले व्यापार की कहां गंध है! इसी प्रकार पवन, पानी और जगत-बीज, यह सब संसार की चीजें हैं। शुद्ध चेतन में इनकी कोई पहुंच नहीं है। तात्पर्य यह है कि सारे विकारों तथा जड़ दृश्यों से रहित अपना शुद्ध चेतनस्वरूप है। अखंड, अजर, अमर है, तब उसमें कुछ मिलना या बिछुड़ना कैसे हो सकता है! जीव से कौन-सा परमात्मा बिछुड़ा है जो उससे मिलने के लिए उसे तड़फड़ाना चाहिए। इस अखंड चेतन स्वरूप को क्या मिलेगा और वह उसमें समायेगा! अखंड में कुछ समाता नहीं है। जो स्वयं अखंड, निर्विकार, स्वतः एवं पूर्णकाम है, वह अपने स्वरूप को भूलकर ही बाहर परमात्मा खोज रहा है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि विवेकियों की संगत में अपने आप का यथार्थ बोध प्राप्त करे।

"ब्रह्मादिक सनकादिक बिरहुली। कथि गये योग अपार बिरहुली।" ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार आदि प्राचीन महापुरुषों, ज्ञानियों तथा

---

1. न जायते म्रियते व विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (कठ उपनिषद् 2/18)

योगियों ने निजात्मतत्त्व को पहचानने एवं उसमें स्थित होने के लिए अपार योग की प्रक्रियाओं का कथन किया है। अनेक ज्ञानियों ने तो आत्मा से अलग परमात्मा माना ही नहीं है। जिन्होंने माना भी है, उन्होंने भी किसी-न-किसी प्रकार घूमकर आत्मा को ही परमात्मा कह दिया है। किन्तु निजस्वरूप की ठीक पहचान न होने से लोग स्थित नहीं हो पाते, बाहर परमात्मा मानकर भटकते हैं।

"मास असारे शीतल बिरहुली। बोइनि सातों बीज बिरहुली।" जैसे गरमी के बाद आषाढ़ महीने में वर्षा शुरू होती है और जमीन शीतल एवं नम हो जाती है, तब किसान खेतों में बीज बोते हैं, वैसे अन्य योनियों के बाद जीव जब मानव-शरीर में आता है तब यहां वह कर्मों के बीज बोता है। वे कर्म-बीज पांचों विषयों में अहंता-ममता करने से ही होते हैं। अतएव शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, मन तथा अहंकार, ये मानो सातों बीज बन जाते हैं। जहां तक दृश्य जड़ है सब पांच विषय है। इन पांचों विषयों में सुख की मान्यता एवं अहंकार करने से सारे कर्म-बन्धन बनते हैं; अतएव मानो पांच विषय, मन तथा अहंकार ही कर्मबीज हैं। ये सब अन्य योनियों में भी रहते हैं, परन्तु वहां कर्म-बन्धन नहीं बनते। कर्म-बन्धन केवल मनुष्य-शरीर में ही बनते हैं और यहीं मिटते भी हैं।

"नित गोड़े नित सींचै बिरहुली। नित नव पल्लव डार बिरहुली।" जैसे खेत में बीज डालकर पौधे हो जाने पर किसान फसल के लिए गोड़ता, सींचता है, वैसे संसारी जीव राग-द्वेषादि से अपने कर्म की फसल को गोड़ते-सींचते हैं। इसलिए उनके संसार-वृक्ष में नित्य नयी-नयी शाखाएं आती हैं, पत्ते और पल्लव आते हैं। अर्थात कर्मी जीव अपने बन्धनों को नित्य बढ़ाता जाता है। फिर तो उसका संसार-वृक्ष इतना फैलता है कि उससे तीनों लोक छा जाता है। मन, वाणी और इन्द्रियां ही मानो जीव के तीनों लोक हैं। कर्मी जीवों के ये तीनों लोक कर्म-संस्कारों से छा जाते हैं। मनुष्य के दिन जितने बीतते हैं, वह सांसारिकता से उतना बोझिल होता जाता है।

"फूल एक भल फुलल बिरहुली। फूलि रहल संसार बिरहुली।" कर्म के वृक्ष में एक प्रसिद्ध फूल खिलता है जिसको एषणा एवं वासना कहते हैं। संसार में जहां तक जीव हैं सबके मन में यही फूल है। अन्य जीवों की वासनाएं बड़ी हलकी तथा धुंधली होती हैं। मनुष्य की वासनाएं प्रबल होती हैं। पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा, इन तीनों एषणाओं में सभी मनुष्य बंधे हैं। यह एषणा, चाहना एवं वासना ही फूल है जो सबके मनरूपी उपवन में खिला है।

"सो फुल लोढ़े सन्त जना बिरहुली। बन्दि के राउर जाय बिरहुली।" उक्त फूल को सन्त जन तोड़ते रहते हैं। अर्थात सन्त वह है जो अपने मन में उठी हुई एषणाओं, चाहनाओं एवं वासनाओं को त्यागता रहे। जैसे किसी वृक्ष में कली एवं फूल आये और माली यदि उन्हें तोड़ता रहे तो आगे फल होने की कोई संभावना नहीं है, वैसे यदि मनुष्य अपने मन की एषणाओं एवं इच्छाओं को त्यागता रहे तो वह भव-बंधनों

से मुक्त हो जायेगा। संत यही करते हैं। यही करने वाले को ही संत कहते हैं। वैसे साधना के प्रथम अवसर में ही एषणाएं रहती हैं जिन्हें साधक को त्यागना पड़ता है। साधना की पूर्ण परिपक्व अवस्था हो जाने पर मन में एषणाएं उठती ही नहीं। और यदि कोई एषणा आये भी तो संत उस कली को तोड़ फेंकते हैं। संत का यही संतत्व है एषणा एवं इच्छा रूपी फूल को निरंतर तोड़ते रहना।

जो इस प्रकार एषणा-विजयी एवं इच्छा-त्यागी हो जाता है वह संसार का वंदनीय हो जाता है और राउर हो जाता है। वह इस संसार से श्रेष्ठ एवं वंदनीय होकर जाता है। बंदि कहते हैं जो जेलखाना में बन्द हो अथवा जो वंदनीय हो। यहां वंदनीय अभिप्राय है। और राउर कहते हैं अंतःपुर को तथा श्रेष्ठ को, यहां अर्थ श्रेष्ठ है। इच्छाजित के लिए यहां दो विशेषण हैं, एक वंदि तथा दूसरा राउर। एक का अर्थ वंदनीय तथा दूसरे का श्रेष्ठ है। जिसने पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा का सर्वथा त्याग कर दिया है वह संसार में वंदनीय हो जाता है, महान हो जाता है, यह तो बाहरी बात हुई। वस्तुतः वह अपने भीतर से महान शांति का सागर, निर्भय तथा सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त हो जाता है। इच्छा-त्यागी के समान कोई नहीं। सद्गुरु कबीर ने अन्यत्र भी कहा है—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बे परवाह।
जिनको कछु नाहिं चाहिए, सो साहनपति साह॥

"सो फल बन्दे भक्त जना बिरहुली। डसिगौ बैतल साँप बिरहुली।" उस फल-फूल की, उस एषणा की भक्तजन वंदना करते हैं, उसकी उपासना करते हैं, इसलिए उन्हें उस फूल से निकलकर पागल सांप काट खाता है। यहां भक्त रह है जो अपनी आत्मा से अलग परमात्मा मानता है। उसे परमात्मा से मिलने की एषणा है, परमात्मा को पाने की इच्छा है। जब तक अपनी आत्मा से भिन्न कुछ भी वस्तु पाने की इच्छा है, तब तक मानो संसार की ही एषणा है। निजस्वरूप से भिन्न ईश्वर कालबूत ही तो है। अर्थात नकली ही तो है। जो कुछ अपनी आत्मा से अलग है वह माया है, जगत है, भले ही उसका नाम परमात्मा रख लिया गया हो। अतएव उसकी एषणा एवं कामना रखने से वियोगजनित पीड़ा होगी ही, क्योंकि वह कुछ नहीं है। वह मिलने वाला ही नहीं है। वह तो केवल विरहियों को तड़फाने वाला है। किसी विरही ने कहा है—

जो मैं ऐसा जानती, प्रीति किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रेम न करियो कोय॥
प्रेम कियो रघुनाथ सो, बाढ़ी विरह अपार।
'राम-सखे' सहि जात नहिं, ज्यों नागिन विष झार॥

जीव से अलग कोई परमात्मा नहीं, जो मिले। रघुनाथ का अर्थ यदि राजा दशरथ का पुत्र श्री रामचन्द्र है तो वे भी नहीं मिल सकते, क्योंकि उनका शरीर छूटे हजारों

वर्ष बीत गये हैं। अलग से भगवान पाने की इच्छा रखने वालों को जीवनभर केवल रोना-तड़फना है। विरह के बावला सांप ने जिसे काट लिया है उसे जीवनभर केवल परेशान रहना है। जो जीवनभर छटपटाता रहे क्या उसे माना जायेगा कि वह परमात्मा को पा गया है! परमात्मा को पाने के लक्षण तो हैं आप्तकाम, अकाम, निष्काम, पूर्णकाम एवं तृप्तकाम हो जाना और यह तभी होगा जब अपनी आत्मा से अलग परमात्मा पाने का भ्रम मिट जायेगा। वस्तुतः निजस्वरूप का बोध, निजस्वरूप में स्थिति ही परमात्मा पाना है। आत्मा ही जब पूर्णकाम हो जाता है, अर्थात जब उसकी सारी एषणाएं छूट जाती हैं तब वही मानो परमात्मा हो गया। परन्तु विरही भक्तों की दशा इससे उलटी होती है। वे अलग से परमात्मा पाने के भ्रम को जीवनभर पाले रहते हैं और उसको लेकर जीवनभर रोते-कल्पते रहते हैं।

"विषहर मन्त्र न मानै बिरहुली। गारुड़ बोले अपार बिरहुली।" सर्पदंस से व्याप्त विष को दूर करने वाला मंत्र विषहर मंत्र कहलाता है। यह समझ लेने की बात है कि कुछ अंडबंड या सुव्यवस्थित ही सही, शब्दों का समूह कहकर छू कर देने से सांप का विष नहीं दूर होता। मंत्र के झाड़ने से सांप या बिच्छू का विष बिलकुल नहीं दूर होता। ऐसा करना केवल अंधविश्वास है। यह विज्ञानसिद्ध बात है कि मंत्र से विष नहीं दूर होता। विष तो औषध से ही दूर होता है। यहां गारुड का शुद्ध रूप गारुडी है जो सर्प-विष को दूर करता है। मंत्र से झाड़ने वाले को भी गारुडी कहते हैं तथा औषध से विष दूर करने वाले विष-वैद्य को भी गारुडी कहते हैं। यहां विषहर मंत्र और गारुडी क्रमशः स्वरूपज्ञान तथा सद्गुरु के लिए रूपक मात्र है।

कबीर साहेब कहते हैं यद्यपि सद्गुरु-गारुडी अपार ज्ञान की बातें बोलते हैं, तथापि विषहर-मंत्र एवं स्वरूपज्ञानपरक बातें विरही जीव नहीं मानते। जो भक्त लोग बाहर से ऐसे भगवान को पाने के लिए तड़फड़ा रहे हैं जिनके सारे अंग कमलों के समान सुन्दर तथा देखने में कोमल-कमनीय हैं या इसके अलावा साकार-निराकार किसी प्रकार ईश्वर का नक्शा बनाकर उससे मिलने के लिए लालायित हैं, उन्हें विवेकवान कितना ही समझावें कि यह सब तुम्हारे मन का धोखा है, तुम्हारी चेतना, तुम्हारी आत्मा के अलावा कोई परमात्मा नहीं है तो वे इस बात को नहीं समझते। सच है—

बिरह बाण जेहि लागिया, औषध लगे न ताहि।
सुसुकि सुसुकि मरि मरि जिवै, उठे कराहि कराहि॥ साखी 73॥

"विष की क्यारी तुम बोयहु बिरहुली। अब लोढ़त का पछिताहु बिरहुली।" हे विरही जीवो! तुमने बाहर से कुछ पाने की इच्छारूपी विषबीज बोकर उसकी फसल तैयार कर ली है, अब उसके असन्तोषरूपी फूल-फल चुनने में क्या पछतावा कर रहे हो! संसार में देखा जाता है कि आदमी जब संसार के भोगों का तीव्र इच्छावाला हो जाता है तब वह पुण्य हो या पाप, सारे कर्म करके उसे पाना चाहता है। उसे भोग तो

मन के अनुसार मिल नहीं सकते, और यदि मिल भी जायें, तो सब छूट जाते हैं। इन अपूर्ण भोगों की तीव्र इच्छा के वश होकर जो शुभाशुभ कर्म कर लिये जाते हैं, उनके फल जीव को संसार-नगर में भटकाने वाले एवं दुख देने वाले हो जाते हैं। जो विष की क्यारी बोयेगा उसके फूल-फल उसे लोढ़ने पड़ेंगे। रूपक में तो विवशता नहीं है। माली विष का पेड़ लगाकर भी उसके फूल-फल न चुने, उसे काटकर फेंक दे तो बन सकता है, परन्तु यह रूपक जिस अर्थ में दिया गया है उसमें स्ववशता नहीं है। कर्म कर लेने के बाद उसके फल भोगने ही पड़ेंगे, चाहे कोई भी हो। "विष की क्यारी तुम बोयहु बिरहुली। अब लोढ़त का पछिताहु बिरहुली।" इसमें दो अर्थों का श्लेष है। एक अर्थ है स्थूल शुभाशुभ कर्म तथा दूसरा अर्थ है बाहर से परमात्मा पाने का भ्रम। अंततः दोनों अर्थों का मूल एक ही है कि जो व्यक्ति अपनी आत्मा से अलग कुछ पाने की चेष्टा करेगा वह मानो विष के बीज बो रहा है और उसे उसके फल में केवल असन्तोष एवं अभाव का ही अनुभव करना पड़ेगा।

"जन्म जन्म यम अन्तरे बिरहुली।" जन्म-जन्मांतरों से वासनारूपी यम ने तुम्हें स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति से दूर किया है। इसको सीधा कहें तो होगा कि तुम अनादिकाल से बाहर से कुछ पाने की वासना में पड़कर आत्मबोध तथा आत्मशांति से वंचित रहे हो। ये एषणाएं, इच्छाएं एवं वासनाएं ही तो जीव को भटका रही हैं। तुम बाहर से कुछ पाना चाहते हो जो तुम्हारे मन का मात्र धोखा है। जीवन रहे तक शरीर की रक्षा के लिए कुछ रोटी-कपड़े की आवश्यकता है। फिर ये भी शरीर के साथ छूट जायेंगे। शेष इन्द्रिय-भोग तो मन को विकारग्रस्त बनाकर छूटने वाले ही हैं। जिसे तुम पाना चाहते हो वह तो तुम्हारा स्वरूप ही है। अतएव यदि भटकन से मुक्ति चाहते हो, शाश्वत शांति एवं अनन्त सुख चाहते हो तो सारी वासनाएं छोड़ दो और अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ।

"फल एक कनयर डार बिरहुली। कहहिं कबीर सच पाव बिरहुली। जो फल चाखहु मोर बिरहुली।" साहेब कहते हैं कि जैसे उजले फूल वाले कनेर की जड़ तथा फूल को पीसकर पिलाने से सर्प-विष उतरता है, वैसे स्वरूपज्ञानपरक वाणी मानो कनेर का पेड़ है। वही तुम्हारे लिए औषध का काम करेगी। तुम बाहर से कुछ पाना चाहते हो, स्वरूपज्ञान की वाणी तुम्हें जाग्रत करेगी कि बाहर से तुम्हें केवल धोखा मिल सकता है, तत्त्व तो तुम्हारे भीतर है और वह तुम्हारा स्वरूप है। साहेब कहते हैं कि हे विरही जीवो! यदि मेरा स्वरूपज्ञानपरक विचार ग्रहण करोगे तो तुम्हें सत्य का बोध मिलेगा। बारम्बार सत्य निर्णय की वाणी पढ़ने से तथा वैसी ही वाणी सुनने से उसका मन पर प्रभाव पड़ता है। आज तक भ्रांति की वाणियों में तुम डूबे थे, इसलिए बाहर सुख तथा परमात्मा खोजते तथा भटकते रहे! अब स्वरूपज्ञान एवं आत्मज्ञान की वाणियों का अध्ययन करो, फिर धीरे-धीरे बाहर से कुछ पाने की भ्रमपूर्ण विरह-व्यथा मिट जायेगी। जब तक तुम बाहर से कुछ पाना चाहोगे, तब तक मन से पीड़ित

रहोगे, और जब निजस्वरूप का ज्ञान हो जायेगा तब वह भ्रम दूर हो जायेगा और जीवन में पूर्ण संतुष्ट हो जाओगे।

यहां सद्गुरु एक बहुत मार्के की बात कहते हैं। वे कहते हैं कि मेरी वाणी कनेर डाल का फल है जो कड़वा होता है, परन्तु उसको चखने से ही तुम्हें सत्य एवं शांति मिलेगी। सत्य कड़वा होता है क्योंकि वह अविवेकी मन के प्रतिकूल होता है।

फल छन्द

निज-निज गुणों युत गुण गुणी,
रवि तेज इव सो अनादि जू।
चैतन्य जड़ दुइ वस्तु हैं,
इसकी न उत्पत्ति बादि जू॥
अभाव से नहिं भाव हो,
सद् भाव ही सु अनादि जू।
जड़ कार्य-कारण से रहित,
पारख स्वछन्द समाधि जू॥

चौपाई

पढ़ैं बिरहुली अर्थ लगावैं।
उलझनि शोक समूह नशावैं॥
गुरु कबीर निज रूप प्रखावैं।
पारख पाय सोई रहि जावैं॥

हिण्डोला

हेतु छन्द

मनमोद हेतु हिण्डोल में,
झूलत लखे संसार को।
अतिही भयंकर मृत्यु हित,
जन्मादि ताप अपार को॥
हा! जन्म अगणित साजसाजे,
भोग विषयन धार को।
लहि हर्ष-शोक पतंग मानुष,
भ्रमत चक्र अधार को॥

दोहा

अग्नि जले जल में डुबे, फाँसी कष्ट अपार।
सुख-वश कहँ नहिं झूलहीं, देखत संत पुकार॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

दशम प्रकरण : हिण्डोला

भ्रम का हिण्डोला

हिण्डोला-1

भरम हिण्डोला झूले, सब जग आय॥ 1॥
पाप पुण्य के खम्भा दोऊ, मेरु माया माँहि॥ 2॥
लोभ भँवरा विषय मरुवा, काम कीला ठानि॥3॥
शुभ अशुभ बनाये डाँड़ी, गहे दूनों पानि॥ 4॥
कर्म पटरिया बैठि के, को को न झूले आनि॥ 5॥
झूलत गण गन्धर्व मुनिवर, झूलत सुरपति इन्द्र॥ 6॥
झूलत नारद शारदा, झूलत ब्यास फणिन्द्र॥ 7॥
झूलत बिरंचि महेश शुक मुनि, झूलत सूरज चन्द्र॥ 8॥
आप निर्गुण सगुण होय, झूलिया गोबिन्द॥ 9॥
छौ चारि चौदह सात एकइस, तीनिउ लोक बनाय॥10॥
खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय॥11॥
खण्ड ब्रह्माण्ड खोजि देखहु, छूटत कितहूँ नाहिं॥12॥
साधु संगति खोजि देखहु, जीव निस्तरि कित जाहिं॥13॥
शशि सूर रैनि शारदी, तहाँ तत्त्व परलय नाहिं॥14॥
काल अकाल परलय नहीं, तहाँ सन्त बिरले जाहिं॥15॥
तहाँ से बिछुरे बहु कल्प बीते, भूमि परे भुलाय॥16॥
साधु संगति खोजि देखहु, बहुरि न उलटि समाय॥17॥
ये झुलबे को भय नहीं, जो होय सन्त सुजान॥18॥
कहहिं कबीर सत सुकृत मिलै, तो बहुरि न झूले आन॥19॥

शब्दार्थ—मेरु= दोनों खम्भों के बीच की लकड़ी जो झूले को संतुलित रखती है। भँवर= भंवरकली, कील में जड़ी हुई वह कड़ी जो सब ओर घूम सके। इसके

आधार से झूला सब ओर घूमता है। मरुवा= वह लकड़ी जिसमें हिंडोला लटकाया जाता है—'मरुआ लगे नग ललित लीला, सुविधि सिल्प सँवारि'—सूरदास, बंडेर। पटरिया= जिसपर बैठकर लोग झूलते हैं। शारदा= सरस्वती, दुर्गा। फणीन्द्र= शेष जी। गोबिन्द= गो-पालक कृष्ण जी। छौ= छह शास्त्र—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत। चार= चारवेद—ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व। चौदह= चौदह विद्याएं—ब्रह्मज्ञान, रसायन, काव्य, वेद, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्विद्या, जलतरण, संगीत, वैद्यक, अश्वारोहण, कोकशास्त्र, नाटक-चाटक तथा चातुरी। सात= सात स्वर्ग। एकइस= इक्कीस भुवन। खानी= मोटी माया। बानी= झीनी माया। अस्थिर= स्थिर। निस्तरि= मुक्त होकर। शारदी= शरद ऋतु संबंधी। काल-अकाल= समय की अच्छी-बुरी स्थिति। सुजान= ज्ञानी। सत= जो तीनों काल में रहे, सत्य, निजस्वरूप का बोध। सुकृत= पुण्य, सत्कर्म।

भावार्थ—संसार के सारे जीव भ्रम के हिंडोले पर बैठकर झूलते हैं॥ 1॥ इस भ्रम के हिंडोले में पाप और पुण्य के खंभे हैं, माया का मेरु है, लोभ की भंवरकली है जो झूले को घुमाती है, विषय का मरुआ है जिसमें झूला पड़ा है, इसमें काम के कीले ठुंके हैं, शुभ और अशुभ के दो डंडे हैं जिन्हें मनुष्यों ने दोनों हाथों से पकड़ रखा है और कर्म की पटरी है जिस पर सब जीव बैठकर झूलते हैं। इस झूले में भला कौन-कौन नहीं आकर झूला!॥ 2-5॥

इस झूले में शिव के गण, गंधर्व, श्रेष्ठ मुनि, देवपति इंद्र, नारद, सरस्वती, दुर्गा, व्यास, शेष, ब्रह्मा, महेश, शुकमुनि, सूर्य, चंद्र, यहां तक कि निर्गुण ब्रह्म कहलाने वाले गोपाल कृष्ण भी सगुण होकर झूल रहे हैं॥ 6-9॥

चार वेद, छह शास्त्र तथा चौदह विद्याएं रचकर और सात स्वर्ग, इक्कीस भुवन एवं तीन लोकों की कल्पनाकर सब जीव भ्रम-हिंडोले पर झूल रहे हैं। खोजकर देखो, खानी और वाणी के जाल में उलझे हुए जीव स्थिर नहीं हैं॥ 10-11॥ इस ब्रह्मांड के खंड-खंड में खोजकर देख लो कहीं इस झूले से छूटने का साधन नहीं है॥ 12॥ हे सत्य शोधक! संतों की संगत में जाकर अनुसंधान करो कि जीव कृतार्थ होकर कहां जायेगा॥ 13॥

जहां चन्द्रमा, सूर्य, रात-दिन, शरद आदि ऋतुएं, जड़ तत्त्व एवं उनके कार्य, उत्पत्ति-प्रलय, समय की अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति आदि नहीं हैं, उस शुद्ध चेतनस्वरूप में कोई बिरला संत स्थित होता है॥ 14-15॥ उस अपने दिव्य स्वरूप से जीव अनादिकाल से बिछुड़ा (विस्मृत) है और इस संसार में उलझकर अपनी स्थिति को भूल गया है॥ 16॥ अब संतों की संगत में बैठकर अपनी उस स्थिति का अनुसंधान करो, जिससे पुनः उलटकर संसार में न लीन होना पड़े॥ 17॥ जो पूर्ण विवेकवान संत हैं उन्हें इस भ्रम-हिण्डोले में झूलने का भय नहीं रह जाता। वे इसके प्रलोभन से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं॥ 18॥ कबीर साहेब कहते हैं कि जिसको निज

सत्य स्वरूप का बोध मिल गया और मन-वाणी-कर्मों की पवित्रतारूपी सुकृति की प्राप्ति हो गयी, वह लौटकर भ्रम-हिंडोले में नहीं झूलता॥ 19॥

व्याख्या—जीव जिस भ्रांति में अनादिकाल से भटक रहा है उसे झूले का रूपक देकर सद्गुरु ने कैसा मार्मिक ढंग से समझाया है; यह सोचते ही बनता है। जैसे खंभे, मेरु, मरुआ, भंवरकली, कांटी, डंडे, पटरी आदि के बिना झूले का रूप नहीं खड़ा होता, वैसे पाप-पुण्य, माया, लोभ, काम, शुभाशुभ वासनाएं, कर्म आदि के बिना यह भ्रम का हिंडोला, यह सांसारिकता एवं जन्म-मरण का हिंडोला नहीं खड़ा होता।

जिस हिंडोले में सब जीव झूल रहे हैं, वह भ्रम का है। भ्रम यह है कि सुख मेरी अपनी आत्मा से अलग है। इस भ्रम ने जीव को विषयों का दास बना दिया है। जो लोग विषयों की दासता से अपने आप को छुड़ा लेते हैं, वे मोक्ष और परमात्मा को अपने से अलग मानकर उनकी खोज करने लगते हैं, और इस भटकाव को वे धर्म मान लेते हैं। अतएव विषय-बंधन तो वैराग्य उदित होने पर छूट भी जाते हैं, परन्तु ईश्वर और मोक्ष खोजने का भ्रम नहीं मिटता, क्योंकि आदमी इन्हें जीवन का परम लक्ष्य समझता है। इस काम को समाज द्वारा बड़ी श्रद्धा से देखा जाता है और देखा जाना भी चाहिए, परन्तु यदि मनुष्य दिशा भूलकर चलता है तो उसके चलने से उसे गंतव्य नहीं मिल सकता। विषयों में सुख खोजना घृणित कार्य है, परन्तु मुक्ति और ईश्वर खोजना पुनीत कार्य है, किन्तु मोक्ष और ईश्वर को अपनी आत्मा से अलग खोजना विपरीत दिशा में जाना है। इस प्रकार अपनी आत्मा से अलग अपने कल्याण के लिए कुछ भी खोजना भ्रम-हिंडोले पर झूलना है।

इस भ्रम के हिंडोले में पहला अवयव है दो खंभे। झूला डालने के लिए पहले खंभे ही गाड़ने पड़ते हैं। इस भ्रम-हिंडोले के खंभे पाप और पुण्य हैं। जीव विषय-सुखों के लिए कर्म करता है और कर्म में दो प्रकार होते हैं एक पाप दूसरा पुण्य। जो कुछ करने से दूसरे को पीड़ा मिले तथा अपना मन मलिन हो वह पाप है और जो कुछ करने से दूसरों को सुख मिले और अपना मन प्रसन्न हो वह पुण्य है। ये पाप-पुण्य इस भ्रम-हिंडोले के स्तंभ हैं। पाप-कर्म तो बांधते ही हैं, पुण्य-कर्म भी उनमें अहंता-ममता हो जाने से बांधते हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह पाप तो बिलकुल करे ही नहीं, पुण्य भी निष्काम होकर करे। जहां सकाम होकर किया गया वहां पुण्य भी बांधेगा।

झूले का संतुलन रखने वाला 'मेरु' है। इस भ्रम-हिंडोले में माया ही मेरु है। माया ही इस भ्रम-हिंडोले को संतुलित बनाये रखती है। माया कहते हैं मन के मोह को। दृश्यों के प्रति जो मन में मोह है यही माया है। यह जितना प्रबल होगा उतना भ्रम-हिंडोला बना रहेगा। मोह टूटने पर तो हिंडोला बिखर जायेगा। मोह असत्य में सत्य, घृणित में सौंदर्य, दुखद में सुखद, जड़देह में आत्मबुद्धि कराकर जीव को सदैव अंधकार में रखता है। यही माया है। जहां अपना पतन हो वहां सुखबुद्धि होना माया

है। मन का छलावा ही तो माया है। तुम देखो अपने मन को, कि यह कब-कब गंदी चीजों की याद कराकर उनमें सुखबुद्धि पैदा करता रहता है! जहां तुम्हारा कुछ नहीं है, वहीं सब कुछ होने का भ्रम होना माया है। यही भ्रम-हिंडोले का 'मेरु' है, शिखर है।

भंवर एवं भंवरकली उस कड़ी को कहते हैं जो कील में जड़ी हुई तो रहती है, परन्तु वह सब ओर घूम सकती है, जैसे पशुओं के गले की जंजीर में लगायी जाती है। झूला को घुमाने वाली भंवरकली होती है। इस भ्रम-हिंडोले की भंवरकली लोभ है। लोभ वह मनोवृत्ति है जिसमें जड़ वस्तुओं के लिए लालच, ललक एवं आकर्षण रहता है। यही तो भ्रम-हिंडोले को झुलाता है। भंवर झूले को घुमाने में सहायक है, वैसे लोभ भ्रम-हिंडोले को चक्कर देने में सहायक है। लोभ के कारण ही तो आदमी रात-दिन बैठना नहीं चाहता। जीवन धारण करने के लिए वस्तुएं तो सभी को चाहिए, परन्तु जो लोभवश हो जाता है वह भटकता रहता है। लोभी आदमी त्यागी नहीं हो सकता और जो त्यागी नहीं हो सकता वह शांति नहीं पा सकता। इसलिए यह लोभ भ्रम-हिंडोले को वेग से नचाने वाला है जिसमें सब जीव चक्कर काट रहे हैं।

जिस पर झूला लटकाया जाता है वह अवयव मरुआ कहलाता है। इस भ्रम-हिंडोले का मरुआ विषय है। विषय पांच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध। इन्हीं विषयों के समवेत स्वरूप पर यह झूला लटका है। यह जीव शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध में क्रमशः कान, चाम, आंख, जीभ तथा नाक से रमण करता एवं आसक्त होता है। विषयों के वश होकर सारा संसार नाच रहा है। शब्द में हिरन, स्पर्श में हाथी, रूप में पतिंगे, रस में मछली तथा गंध में भंवरे मारे जाते हैं। मनुष्य में तो ये पांचों विषय प्रबल हैं, फिर इसकी दशा सर्वाधिक घृणित हो तो स्वाभाविक है। यह सच है कि मनुष्य में विवेक है, वह यदि अपने सुप्त विवेक को जगा ले तो सभी विषयों से छूट सकता है, परन्तु हिरन आदि नहीं छूट सकते, क्योंकि उनमें विवेक नहीं है। परन्तु मनुष्य पशु-पक्षियों से भी अधिक अविवेकी बन गया है। मनुष्य रात-दिन विषयों के वश नाचता है। कहीं शब्द में नाचता है, कहीं स्वाद में, कहीं गंध में नाचता है, कहीं रूप में और स्पर्श में तो इतना नाचता है कि कहना क्या! यही सब तो भ्रम-हिंडोला है।

हिण्डोला के सारे अवयव लोहे के कीले गाड़कर कसे होते हैं। इस भ्रम के हिण्डोले के सारे अवयवों को कसने में काम के कीले लगे हैं। काम का अर्थ कामना, इच्छा, एषणा है। ये पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा ही तो काम के कीले हैं। कीले निकल जायें तो झूला बिखर जाये, इसी प्रकार कामना का अन्त हो जाये तो भ्रम का हिण्डोला रहे ही नहीं। यह काम जीव को नचाता है। कामना में अंधे होकर ही लोग व्यभिचार, हत्या, डाका, छल-कपट एवं विश्वासघात करते हैं। कामना में प्रमत्त होकर ही लोग पिता, गुरु, पति, पत्नी आदि की हत्या करते हैं। कामना में अंधा होकर आदमी क्या-क्या नहीं करता है। यह कामना के कीले से कसा हुआ भ्रम-हिण्डोला

जीव को चक्कर कटा रहा है।

झूले पर बैठने के आसन होते हैं जिन पर बैठकर लोग झूलते हैं और उन आसनों के आधार डंडे होते हैं जो आसनों को टांगे रहते हैं। झूलने वाले दोनों हाथों से उन डंडों को पकड़े रहते हैं। इस भ्रम-हिण्डोले में कर्म पटरी एवं आसन हैं तथा शुभ और अशुभ वासनाएं डंडे हैं जिन्हें जीव ने पकड़ रखे हैं। इस हिण्डोला-पद के शुरू में पाप-पुण्य खम्भे कहे गये हैं और यहां शुभ और अशुभ डांडी कहे गये। इसमें भ्रम हो सकता है कि पाप-पुण्य ही तो अशुभ-शुभ हैं, फिर यहां पुनरुक्ति क्यों की गयी! परन्तु ऐसी बात नहीं है। पाप और पुण्य कर्म हैं, किन्तु शुभ-अशुभ वासनाएं हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ये जीव शुभ और अशुभ वासनाओं के डंडे पकड़कर कर्म की आसनी पर बैठे झूल रहे हैं। किसी ने पूछा कि इस भ्रम-हिण्डोले पर कौन-कौन झूल रहा है? सद्गुरु ने उससे प्रतिप्रश्न में कहा कि यह पूछो कि इस झूले पर कौन-कौन नहीं झूल रहा है! सब तो झूल रहे हैं। इसके बाद सद्गुरु शिव के गण, गंधर्व, मुनिश्रेष्ठ, देवपति इंद्र, नारद, सरस्वती, दुर्गा, व्यास, शेष, ब्रह्मा, महेश, शुकमुनि, सूरज, चांद के नाम तो लेते ही हैं, वे कहते हैं निर्गुण ब्रह्म कहलाने वाले गोपालकृष्ण भी सगुण होकर झूल रहे हैं, अथवा निर्गुण-सगुण के झमेले में कृष्ण झूल रहे हैं।

उक्त सूची में सूरज-चांद के नाम भी आये हैं। वस्तुतः सूरज-चांद के नाम के देवता पुराणों में प्रसिद्ध हैं। उन्हीं के लिए यह प्रयोग होगा क्योंकि कर्म के एवं भ्रम के हिण्डोले पर जीवधारी ही के झूलने की बात कही जा सकती है। आकाश के जड़पिण्ड सूरज-चांद को तो इतना ही कहा जा सकता है कि वे प्राकृतिक गतिविधियों से झूल रहे हैं। परन्तु ये अचेतन होने से न इनमें मन है, न इन्हें सुख-दुख हैं और न इन्हें कुछ राय देने की आवश्यकता है। दूसरी एक महत्त्वपूर्ण बात है "आप निर्गुण-सगुण होय झूलिया गोबिन्द।" स्वयं गोपाल कृष्ण निर्गुण-सगुण के चक्कर में झूलते हैं, कथन के इस भाव को लेकर अवतारवादी धारणा वाले कहते हैं—"देखो, कबीर साहेब अवतार मानते थे। कबीर साहेब यहां कहते हैं कि कृष्ण मूलतः निर्गुण हैं, परन्तु सगुण अवतार लेकर झूलते हैं।"

वस्तुतः यहां कृष्ण को अवतार सिद्ध करने की बात नहीं है। जो कबीर बीजक भर में अवतारवाद का खंडन करते हैं वे यहां एकाएक उसका मंडन नहीं करने लगेंगे। वैसे सब जीव स्वरूपतः निर्गुण अर्थात प्रकृति-गति से परे हैं और कर्मवश सगुण अर्थात देहधारी हैं। श्रीकृष्ण या कोई भी, विश्व का कर्ता-धर्ता नहीं है। श्रीकृष्ण हों या श्रीराम, इनसे सम्बन्धित महाकाव्यों के पहले रूपों में अवतारवाद का उल्लेख नहीं था। यहां संदर्भ श्रीकृष्ण का है। ऋग्वेद (8/85/13-16)[1] में कृष्ण को शूरवीर,

1. ऋग्वेद के इस स्थल पर जहां खिल (परिशिष्ट) भाग है, वहां यह विषय 8/96/13-16 में पड़ता है।

कर्मकांडों का विरोधी तथा वन्य जातियों का रक्षक माना गया है और छांदोग्य उपनिषद् (3/17/6) में अध्यात्मज्ञान का जिज्ञासु, जिसे 'घोर आंगिरस' ने ज्ञान दिया है। महाभारत कौरव-पांडवों की कथाओं का काव्य है। इसके प्रथम संस्करण में जब इसका नाम 'जय' था कृष्ण की चर्चा कौरव-पांडवों के सम्बन्धी के रूप में थी। पीछे जितने दिन बीतते गये कृष्ण को अवतार और फिर पूर्ण परब्रह्म बनाया गया। समस्त वेद, वैदिक साहित्य तथा वैदिक शास्त्र में राम-कृष्ण के ब्रह्म होने तथा अवतार होने की चर्चा ही नहीं है। विवेक से तो यह सिद्ध ही है कि ये सब मनुष्य थे। अतएव यहां कृष्ण के अवतार की चर्चा नहीं है, किन्तु कबीर साहेब यहां व्यंग्य रूप में कहते हैं कि निर्गुण-सगुण ब्रह्म कहे जाने वाले श्रीकृष्ण बेचारे स्वयं इस भ्रम-हिण्डोले में झूल रहे हैं। वैसे तो सब देहधारी इस भ्रम-हिण्डोले में झूल रहे हैं, परन्तु कबीर साहेब यहां बड़ों-बड़ों के नाम इसलिए लेते हैं कि लोग इन्हें अतिमानवीय शक्ति से सम्पन्न होने की कल्पना करते हैं जो ज्ञान के क्षेत्र में एक भ्रम पैदा करने वाला है। साहेब कहते हैं कि सभी देहधारी वे चाहे जितने बड़े नाम-ग्राम वाले हों, इस संसार के झूले में झूल रहे हैं।

"छौ चारि चौदह सात एकइस, तीनिउ लोक बनाय। खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।" चार वेद, छह शास्त्र, चौदह विद्याएं रचकर तथा सात स्वर्ग, इक्कीस भुवन और तीन लोकों की कल्पना कर सब जीव इस झूले में झूल रहे हैं। इसका अर्थ है कि आदमी खानी जाल में तो उलझा ही है, वाणी जाल में भी खूब उलझा है। वेद-शास्त्रों एवं विविध विद्याओं में जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण के तत्त्व हैं, परन्तु उनमें ऐसे अंश भी हैं जो जीव को दिग्भ्रमित करते हैं। इसलिए परखदृष्टि से शोधकर ग्रहण करने वाला उनसे लाभ लेता है और जिसे परखदृष्टि नहीं है वह उनमें उलझता है। परम पारखी संत श्री रामरहस साहेब ने अपनी महान रचना पंचग्रंथी में लिखा है कि वेदादि समस्त वाणियों का बोध के लिए उपयोग करो।[1] जब शास्त्रों को स्वतः प्रमाण मान लिया जाता है और विश्वसत्ता के नियमों की कसौटी से उनके ज्ञान को नहीं कसा जाता है तब शास्त्र वाणीजाल हो जाते हैं। नाना लोक-लोकांतरों की कल्पना भी वाणीजाल है कि अमुक जगह स्वर्ग है, अमुक जगह मोक्षधाम है आदि। इंद्रिय-लम्पटता तथा प्राणी-पदार्थों के मोह-लोभ में उलझना खानी जाल में फंसना है तथा शास्त्रों की स्वतः प्रामाणिकता के भ्रम में पड़कर ज्ञान के क्षेत्र में तर्कहीन, विवेकहीन तथा विश्वनियमों के विरुद्ध बात मानना एवं करना वाणीजाल में उलझना है। साहेब कहते हैं कि तुम खोजकर देखो कि जो लोग खानी और वाणी के जाल में उलझे हैं उनको जीवन में शांति नहीं है। यह खानी-वाणी जाल ही तो भ्रम-हिण्डोला का सर्वांग रूप है। भोगैश्वर्य की कामना खानी जाल है तथा

---

1. वेद आदि बानी सबै, बोध हेतु उर धार॥ पंचग्रन्थी, गुरुबोध, दोहा 39॥

अंधविश्वासपूर्ण ज्ञान एवं अंध शास्त्रप्रमाणता वाणी जाल है। जिसका मन विषयों में डूबा है तथा बुद्धि भ्रम में डूबी है, उसे कहां शांति मिलेगी। कबीर साहेब के महावाक्यों में यह एक है "खानी बानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय।"

"खण्ड ब्रह्माण्ड खोजि देखहु, छूटत कतहूँ नाहिं।" इस ब्रह्माण्ड के खंड-खंड में खोजकर देख लो, जीव को बंधनों से छूटने की कोई जगह नहीं है। अर्थात बाहर तो केवल जाल है। बाहर न कहीं स्वर्ग-लोक है और न मोक्ष-लोक है। इसलिए इस प्रकृतिजाल में मोक्ष का ठिकाना मत खोजना। सात स्वर्ग, सात तपक, जन्नत, साकेतलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक आदि सारे लोक केवल वाणीजाल हैं। कहीं कुछ नहीं है। जहां कहीं जमीन होगी और उसमें प्राणी होंगे वे घूम-फिरकर यहां की तरह बंधनों में होंगे। अतएव लोक-लोकांतरों में मोक्ष की कल्पना करना और इस भ्रम-हिण्डोले से छुटकारा की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है।

"साधु संगति खोजि देखहु, जीव निस्तरि कित जाहिं।" सद्गुरु जिज्ञासुओं एवं मुमुक्षुओं को राय देते हैं कि तुम संतों की संगत में जाओ और वहां सेवा करते हुए श्रद्धा, भक्ति एवं बुद्धि पूर्वक सत्य की खोज करो। संतों के सत्संग में इसका शोधन करो कि जीव मुक्त होकर कहां जायेगा? यह जीव जब इस भ्रम-हिण्डोले से उतर जायेगा तब उससे मुक्त होने पर इसकी स्थिति क्या होगी। यह कहां स्थित होगा?

सद्गुरु कबीर उक्त प्रश्न का उत्तर स्वयं देते हैं "शशि सूर रैनि शारदी, तहाँ तत्त्व परलय नाहिं। काल अकाल परलय नहीं, तहाँ सन्त बिरले जाहिं।" यह जीव संसार के भ्रम-हिण्डोले से उतरकर एवं मन से मुक्त होकर जहां जाता है वहां न चन्द्रमा है, न सूरज है, न रात है, न दिन है, न शरद आदि ऋतुएं हैं। वहां जड़तत्त्व की कोई गंध भी नहीं है। इसलिए वहां उत्पत्ति-प्रलय रूप विकार की कोई गुंजाइश नहीं है। वहां समय की अनुकूलता-प्रतिकूलता का भी प्रश्न नहीं है। ऐसे दिव्य धाम में कोई बिरला संत पहुंचता है। यह है व्यक्ति का अपना स्वरूप, अपनी आत्मा, अपना आपा। इसी को पारख पद कहते हैं। इसी को कोई अपनी-अपनी भाषा में ब्रह्म, परमात्मा, निर्वाण, मोक्ष कुछ भी कह सकता है। देह में रहते-रहते जब साधक सारे संकल्पों को छोड़कर अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाता है तब वह देह भी भूल जाता है। समुद्र के तट पर खड़ा हुआ व्यक्ति जब समुद्र की तरफ देखता है तब वह केवल जल देखता है और जब उधर पीठ कर देता है, तब जमीन की तरफ उसकी दृष्टि हो जाने से केवल थल देखता है। मन उपस्थित होने पर संसार दिखता है, जब मन विलीन हो गया तब केवल निज चेतनस्वरूप रह गया। वहां प्रकृति है ही नहीं। मन ही संसार को जीव के सामने उपस्थित करता है। अतएव जब मन शांत हो जाता है तब जीव अकेला रह जाता है। यही असंगता है, यही कैवल्य है और यही तत्त्वतः अद्वैत भी हो सकता है। समस्त जड़-चेतन मिलाकर अद्वैत की कल्पना करना भ्रम है। वस्तुतः सारी कल्पनाओं का अन्त अद्वैत है, अकेलापन है। तात्पर्य यह है कि मन तथा मन की

रागात्मक प्रवृत्तियां ही भ्रम-हिण्डोला है। इससे उतरने पर जीव केवल अपनी शुद्ध चेतना में स्थित हो जाता है जहां चांद-सूरज, दिन-रात आदि प्रकृति क्षेत्र नहीं है। इस दशा में कोई बिरला संत ठहरता है।

हर साधक को चाहिए कि वह प्रतिदिन कुछ समय के लिए एकांत में बैठकर सारे संकल्पों को छोड़ने का प्रयत्न करे। वैराग्य और अभ्यास जितने बढ़ेंगे इस काम में उतनी शीघ्र सफलता होगी। परिपक्व साधक तो बैठे-लेटे जब चाहता है तब सारे संकल्पों को छोड़कर केवल अपनी चेतना में स्थित हो जाता है। देह में रहते-रहते देहातीत शुद्ध चेतन की स्थिति का अनुभव करना चाहिए। इस स्थिति के प्रगाढ़ अभ्यासी को देह-गेहादि किसी का राग नहीं रह जाता।

हर मनुष्य की अंतरात्मा चाहती है कि हम निर्भय स्थान में पहुंच जायें। सारा प्रकृति-क्षेत्र परिवर्तनशील है और जहां तक परिवर्तन है, वहां तक निर्भयता नहीं है। हर आदमी का दिल यही चाहता है कि इस दुख भरे, परिवर्तनशील एवं क्षणभंगुर संसार से दूर कहीं ऐसी जगह में चले जायें जहां केवल स्थिरता, निर्भयता, शान्ति एवं सुख-ही-सुख हो। साहेब कहते हैं कि मैं तुम्हें ऐसी ही जगह बता रहा हूं जहां स्थूल चन्द्रमा, सूरज से लेकर सूक्ष्म जड़तत्त्व तक नहीं है। वहां समय की अनुकूलता-प्रतिकूलता का चक्कर नहीं है। वहां प्रकृति जाल है ही नहीं तो उत्पत्ति-प्रलय होने का प्रश्न ही कहां है! वहां तो समस्त जड़दृश्य जाल से परे केवल तुम-ही-तुम शुद्ध चेतन हो। यह निर्भय-पद है। सारी वासना छोड़ो और केवल अपनी चेतना में स्थित होओ। देह में रहते-रहते इस विदेह अवस्था को प्राप्त करो। इस साधना में डूबा साधक सब समय निर्भय एवं सुखी होता है।

"तहाँ से बिछुरे बहु कल्प बीते, भूमि परे भुलाय।" उक्त दिव्य स्थिति से बिछुड़े तुम्हारे बहुत कल्प हो गये। चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष का एक कल्प माना जाता है। ऐसे बहुत कल्प बीत गये हैं और तुम उक्त दिव्य एवं निर्भय स्थिति से बिछुड़कर इस भूमि पर एवं इस संसार में भटक रहे हो। यहां "बहु कल्प बीते" का शाब्दिक अर्थ है कि बहुत कल्प बीत गये हैं जिसका लाक्षणिक अर्थ है अनादिकाल का समय बीत गया है। गीता में आता है कि योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यात्माओं के लोक में जाकर वहां "शाश्वतीः समाः"[1] अनंतकाल तक रहता है। 'शाश्वतीः समाः' का अर्थ अनंतकाल होता है। परन्तु वहां कहने का भाव यह नहीं है, किन्तु भाव है कि बहुत वर्षों तक रहता है; क्योंकि ब्राह्मण-परम्परा में स्वर्ग को अक्षय नहीं माना गया है। इसीलिए उसी श्लोक में है कि वह जीवात्मा पवित्रात्मा तथा धनी लोगों के यहां जन्म लेता है। जब वह स्वर्ग के बाद जन्म लेता है तब वह स्वर्ग में "शाश्वतीः समाः" कहां रहा! अतएव

---

1. प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ गीता 6/41॥

यहां 'शाश्वती समाः' का अर्थ बहुत वर्षों तक है। इसी प्रकार बीजक के इस हिण्डोले में "बहु कल्प बीते" का शाब्दिक अर्थ हुआ कि बहुत कल्प बीत गये। परन्तु इसका लक्षणा अर्थ है कि अनादिकाल का समय बीत गया। जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूलकर भटक रहा है।

"तहाँ से बिछुरे बहु कल्प बीते, भूमि परे भुलाय।" इसका सपाट अर्थ यही है कि जीव पहले प्रकृति-जाल से रहित दिव्य स्वरूपस्थिति दशा में था, परन्तु बहुत कल्पों से वहां से बिछुड़ गया है और इस संसार में भटक रहा है। प्रश्न होता है कि मोक्ष-स्थिति में तो बंधन में आने का कोई कारण नहीं था, तो वह कैसे बंधन में आ गया! यह विषय इतना नाजुक है कि बंधन अनादि ही कहने पर इसका समाधान हो सकता है। पहले मुक्त होता तो बंधनों में क्यों आता! वस्तुतः जीव का मौलिक स्वरूप ऐसा है कि वह प्रकृतिजाल से सर्वथा अलग है, इसलिए वह बंधनों को छोड़कर अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है। इसलिए कुल मिलाकर इस पंक्ति का अर्थ है कि जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूलकर संसार एवं प्रकृति-जाल में भटक रहा है।

"साधु संगति खोजि देखहु, बहुरि न उलटि समाय।" सद्गुरु कहते हैं कि हे मुमुक्षु! तुम संतों की संगति में जाकर निजस्वरूप का शोधन करो और अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान पाकर ऐसी दिव्य रहनी में रहो जिससे पुनः उलटकर गर्भवास में न लीन होना पड़े। जब तुम विषयों में नहीं लीन होगे तब गर्भवास में भी नहीं डूबोगे। कबीर साहेब शाश्वत मोक्ष मानते हैं। वे मोक्षतत्त्व तथा मोक्षरहनी दोनों की खोज करने के लिए साधु-संगति बताते हैं। डॉक्टरों की संगति से डॉक्टरी, विद्वानों की संगति से विद्या तथा वकीलों की संगति से वकालत का ज्ञान होता है, इसी प्रकार परमार्थ-परायण एवं जीवन्मुक्ति में रमने वाले संतों की संगति से मोक्षतत्त्व का ज्ञान होगा। शास्त्रज्ञानी मोक्ष का बौद्धिक व्याख्यान कर देगा, किन्तु जो मोक्ष-स्थिति में रम रहा है उसके द्वारा सही निर्देश मिलेगा। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे साधक! तुम साधु की संगत करो। उनकी उपासना एवं भक्ति करो। उनकी सेवा करो। उनसे इस मोक्षतत्त्व के विषय में प्रश्न करो। उनकी संगति में तुम्हें अपने स्वरूप की परख होगी और वासनाओं को त्यागकर स्वरूप में स्थित होने के लिए बल मिलेगा। वैराग्य-बोध-प्रिय संतों की संगति ही तुम्हें मोक्ष-पथ में शक्ति देगी।

"ये झुलबे को भय नहीं, जो होय सन्त सुजान।" जो सुजान संत है, जिसे अच्छी तरह जड़-चेतन के भिन्नत्व का, अपने स्वरूप का तथा मोक्ष की रहनी का ज्ञान है और जो सारी एषणाओं तथा वासनाओं को छोड़कर निजस्वरूप में स्थित है, उसे इस भ्रम-हिण्डोले पर झूलने का प्रश्न नहीं रह गया है। उसको यह भय नहीं होता है कि मैं पुनः फिसल जाऊंगा, क्योंकि उसकी विवेक-वैराग्य की दिव्य रहनी रहती है। वह कुसंग से दूर तथा सत्संग में निवास करता है। वह मोक्ष की समस्त रहनी का आचरण

करता है। वह हर समय वासनाओं को त्यागकर अपने असंग स्वरूप के विचार में मग्न रहता है। उसके मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया आदि का द्वन्द्व दूर हो जाता है। वह किसी के छूटने-विनशने के भय से मुक्त होता है।

हर जीव को हर समय भय सवार रहता है। अनुकूल लोग प्रतिकूल न हो जायें, धन मिट न जाये, शरीर में रोग न लग जाये, कोई एक्सीडेंट न हो जाये, या इसी प्रकार अनेक भय होते हैं। सुजान संत इन सारे द्वन्द्वों से रहित रहता है। जो अपनी चेतना में रमता है, उसके ख्याल में छूटने तथा मिटने की कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। जो छूटने वाला था, उसका मोह उसने पहले छोड़ दिया है और जिसमें वह रमता है वह उसकी आत्मा ही है। वह उससे अलग नहीं हो सकती। इसलिए उसके सारे भय मिट जाते हैं। वह इसी जीवन में कृतकृत्य हो जाता है, आप्तकाम, अकाम, पूर्णकाम, निष्काम तथा प्राप्तकाम हो जाता है।

"कहहिं कबीर सत सुकृत मिलै, तो बहुरि न झूले आन।" जन्म-मरण के झूले से तभी छुटकारा मिलेगा जब सत सुकृत मिले। सत्य के साथ सुकृत की भी महान आवश्यकता है। सत उसे कहते हैं जो तीनों काल में रहे। ऐसे पदार्थ दो हैं एक जड़, दूसरा चेतन। जड़ में भी अनेक तत्त्व तथा उनके असंख्य परमाणु हैं, वे सब सत हैं; परन्तु जिस सत की प्राप्ति से मोक्ष मिलता है वह सत जड़ नहीं है। तो चेतन सत पर विचार कीजिए। चेतन भी एक नहीं, असंख्य हैं, परन्तु उन सभी चेतनों से भी मोक्ष में प्रयोजन नहीं। केवल अपने आप से प्रयोजन है। मैं चेतन हूं और सत हूं। सत्रहवीं शताब्दी के पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट ने भी कहा था—

"यदि यह निश्चय हुआ कि मुझे संशय है तो यह भी निश्चय है कि मैं सोचता हूं; क्योंकि संशय करना एक प्रकार सोच या विचार है। पर जो वस्तु है ही नहीं, वह कैसे कुछ विचार कर सकती है। इसलिए यदि मैं विचार करता हूं तो मैं अवश्य हूं। इससे यह निःसंदेह सिद्ध हुआ कि मैं हूं!"

तात्पर्य यह कि 'मैं सत हूं' इसमें कोई कोरकसर नहीं। इसके साथ-साथ 'मैं चेतन हूं' यह भी निर्विवाद है। मनोविकार के सम्बन्ध में ही मैं विकारी बनता हूं, अन्यथा उसे हटाकर मैं निर्मल हूं, अर्थात मैं स्वरूप से सर्वथा शुद्ध हूं। चेतन विलक्षण वस्तु है, इसलिए वह जड़ से बना हुआ नहीं, अपितु अजन्मा है, इसीलिए वह किसी का अंश भी नहीं, क्योंकि अंश का नाश हो जाता है। वह अंशी भी नहीं, क्योंकि अंशी विकारी होता है, तभी उसमें अंश बनते हैं। अतएव मैं व्याप्य-व्यापक, अंश-अंशी तथा जड़ से सर्वथा पृथक सत-चिद्-शान्त हूं—इस प्रकार ठीक से समझ लेना ही सत की प्राप्ति है। 'सत' मैं हूं, अपने आप को ठीक से समझकर अपने आप में ही स्थित हो जाऊं, बस सत मिल गया।

उपर्युक्त सत का बोध प्राप्त कर उस सत में स्थित होना तब तक संभव नहीं जब तक 'सुकृत' न प्राप्त कर लें। जैसे जब तक खेत को कई बार जोत न लिया जाये,

उसमें खाद-पानी डालकर उसे उर्वर न बना लिया जाये, तब तक उसमें बीज डालना बेकार है। इसी प्रकार जब तक सुकृत का संचय न कर लिया जाये तब तक न सत का बोध होगा न उसमें स्थिति होगी।

प्रश्न होता है कि सुकृत क्या है! उत्तर में समझना चाहिए समस्त पुण्य आचरण ही सुकृत है। पहले तो चोरी, हिंसा, व्यभिचार, अभक्ष्य-भोजन तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि विकार छोड़ दिये जायें, पुनश्च अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, दया, पवित्राचार, लोक-सेवा, प्राणि-रक्षा, विवेकी सन्त-गुरु की सेवा आदि किये जायें। यह मन-इंद्रियों का उत्तम-निर्मल व्यवहार ही सुकृत है। इसका आचरण करने वाला ही भाग्यवान है। अपने भाग्य के विधाता हम स्वयं हैं।

इस प्रकार उत्तम आचरण वाले व्यक्ति का हृदय कमाये हुए खेत की भांति उर्वर होता है। उसमें ज्ञान के बीज पड़ते ही उग आते हैं और थोड़े ही दिनों में लहलहाकर परमार्थ के वृक्ष सर्वांग हो जाते हैं और मुक्ति के उत्तम फल लग जाते हैं।

इस प्रकार 'सत' निजस्वरूप चेतन तथा सुकृत पवित्र रहनी है। स्वरूपबोध और रहनी, जब दोनों जीवन में हो जाते हैं तब जीव संसार के भ्रम-हिंडोले में पुनः नहीं झूलता। मेरा स्वरूप निर्मल तथा निर्विकार है यह सत का बोध तब काम देता है जब मन से मल एवं विकार छोड़ दिये जाते हैं। इसलिए स्वरूपज्ञान प्राप्त होने के साथ वासनाओं को त्यागकर स्वरूपस्थिति की दशा में ठहरना अत्यन्त आवश्यक है। सद्गुरु ने पूर्ण परख के साथ यह पंक्ति कही है—

कहहिं कबीर सत सुकृत मिलै, तो बहुरि न झूले आन।

इस झूले की आशा छोड़ो

हिंडोला-2

बहु बिधि चित्र बनाय के, हरि रचिन क्रीड़ा रास॥ 1॥
जाहि न इच्छा झूलबे की, ऐसी बुधि केहि पास॥ 2॥
झूलत झूलत बहुकल्प बीते, मन नहिं छाड़े आस॥ 3॥
रच्यो रहस हिण्डोरवा, निशि चारिउ युग चौमास॥ 4॥
कबहुँक ऊँचे कबहुँक नीचे, स्वर्ग भूत ले जाय॥ 5॥
अति भरमित भरम हिण्डोरवा, नेकु नहीं ठहराय॥ 6॥
डरपत हौं यह झूलबे को, राखु यादव राय॥ 7॥
कहैं कबीर गोपाल बिनती, शरण हरि तुम आय॥ 8॥

शब्दार्थ—क्रीड़ा= खेल। रास= शब्द, ध्वनि, कोलाहल, नृत्यक्रीड़ा। रहस= आमोद-प्रमोद, आनन्द। स्वर्ग= आकाश, लोकांतर। भूत= भूतल, जगत, यह लोक। नेकु= थोड़ा। यादव राय= श्रीकृष्ण।

भावार्थ—हरि ने अनेक प्रकार के चित्र बनाकर भ्रम-हिंडोले की नृत्य-क्रीड़ा का प्रवर्तन किया है॥ 1॥ इस पर झूलने की इच्छा जिसे न हो वैसी विवेकवती बुद्धि भला किसके पास होगी!॥ 2॥ इस विषय-रंग रूप भ्रम-हिंडोले पर झूलते-झूलते अनादिकाल का समय बीत गया है, परन्तु मन आज तक इससे नहीं ऊबता और अभी भी विषयों की आशा नहीं छोड़ता॥ 3॥ यह भ्रम-हिंडोले की नृत्यक्रीड़ा एवं आनंद-उत्सव ऐसा चला रखा है जो चारों युग रूपी चौमासा में रात-दिन चलता रहता है॥ 4॥ यह भ्रम-हिंडोला जीव को कभी ऊंची योनियों (मनुष्य) में ले जाता है और कभी नीची योनियों (पशु, पक्षी, कृमि आदि) में ले जाता है, कभी यह आकाश में ले जाता है और कभी भूतल पर ला पटकता है। यह भ्रम-हिंडोला अत्यंत भ्रमणशील है। यह थोड़ा भी स्थिर नहीं होता॥ 5-6॥ अबोधी जीव कहता है कि क्रीड़ा-रासरूपी हिंडोले के प्रवर्तक हे यादवपति श्री कृष्ण जी! मैं आपके बनाये झूले से भयभीत हूं। आप इस झूले को स्थिर कर दीजिये, जिससे मैं इससे उतर पड़ूं॥ 7॥ कबीर साहेब कहते हैं कि इस प्रकार अबोधी जीव गोपाल श्री हरि कृष्ण जी की शरण में जाकर उनसे विनती करते हैं॥ 8॥

व्याख्या—भ्रम-हिंडोले के साथ इस पद में रास शब्द का भी प्रयोग हुआ है। पौराणिक लोग मानते हैं कि इस रासक्रीड़ा का प्रवर्तन कार्तिक पूर्णिमा को श्री कृष्ण ने किया है। ऋग्वेद (8/85/13-16), छांदोग्य उपनिषद् (3/17/6) तथा महाभारत में जहां श्री कृष्ण की चर्चा है, रासलीला की गंध भी नहीं है। इसकी शुरुआत हरिवंश[1] पुराण से होती है, भागवत पुराण के रास पंचाध्यायी में यह फलती-फूलती है, ब्रह्मवैवर्त पुराण में इसका अधिक विस्तार होता है तथा गर्ग संहिता में यह अधिकतम फैल जाती है। इसके बाद जयदेव, सूरदास आदि अनेक रसिक भक्त-कवियों ने इसको अपने-अपने स्वर में फैलाया है।

यह हमारे देश का महा दुर्भाग्य रहा है कि जिन श्री कृष्ण तथा श्रीराम को हमने महान माना है, उन्हीं के चरित्र-हनन का हमने मूढ़तापूर्ण प्रयत्न किया है। ऊपर बताया गया कि वेद, उपनिषद् तथा महाभारत में जहां श्री कृष्ण की चर्चा है रास की गंध भी नहीं है। यहां तक कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जब श्री कृष्ण की अग्रपूजा से क्षुब्ध होकर शिशुपाल ने उन्हें गालियां दी हैं[2] तब वह एक जबान में भी रास की चर्चा नहीं कर सका है। यदि श्री कृष्ण ने रास जैसा घृणित कार्य किया होता और इसका पहले कहीं चित्रण होता तो शिशुपाल इसको लेकर श्री कृष्ण की सभा में चींधी-चींधी उड़ा देता। परन्तु घोर दुख की बात है कि श्री कृष्ण के प्रेमी कहलाने वाले पण्डितों और भक्तों ने श्री कृष्ण के साथ रास जोड़कर उनके चेहरे को खराब

---

1. हरिवंश पुराण विष्णुपर्व, अध्याय 20।
2. महाभारत, सभापर्व, अध्याय 37 तथा 41।

किया है। इसी की नकल में पीछे से श्रीराम के चरित में रास जोड़ा गया। यह सर्वविदित है कि राम के जीवन चरित का प्रथम काव्य ग्रन्थ वाल्मीकीय रामायण है और उसमें श्री राम को एकपत्नीव्रती बताया गया है, परन्तु कृष्ण-कथा के साथ जोड़े गये रास को देखकर राम-भक्तों को भी यह लालच उत्पन्न हुआ और उन्होंने भी श्रीराम के जीवन में रासलीला जोड़ दी। इसके लिए हनुमत संहिता, बृहतकोशल खंड, ब्रह्मरामायण, चित्रकूट-माहात्म्य, भुशुंडि रामायण, महारामायण आदि देखने योग्य हैं।

रासक्रीड़ा-जैसे घृणित कृत्य का प्रवर्तक श्री कृष्ण को निरूपित करने का प्रयास उन्हीं के भक्तों ने किया। भारत की नस-नस में यह ऐसा समा गया है कि उसका स्वाभाविक रूप बन गया है। इस दूसरे हिंडोले में एक बार 'रास' तथा दूसरी बार 'रहस' शब्द आया है। दोनों का अर्थ एक है स्त्रियों के साथ नाचना-गाना, आमोद-प्रमोद करना तथा विषय-क्रीड़ा करना। यहां तो यह प्रतीक मात्र है। कबीर साहेब द्वारा वर्णित भ्रम-हिंडोले की रासक्रीड़ा जीव की अविद्या द्वारा संचालित मन का संसरण एवं विषय-वासना है जो सब के मन में है। परन्तु इस पद में रास तथा रहस कहकर कबीर साहेब ने तथाकथित रास-नायक श्रीकृष्ण का भी नाम लिया है। इस पद में दो बार हरि कहकर, एक बार यादवराय तथा एक बार गोपाल कहकर कृष्ण की याद की गयी है जो केवल प्रतीकात्मक कथन है।

ध्यान देने योग्य बात है कि कबीर साहेब पूरे बीजक में अवतारवाद का खंडन करते हैं। वे श्रीराम एवं श्रीकृष्ण को महापुरुष मानते हैं, परब्रह्म एवं विश्वनियंता नहीं। श्री कृष्ण के विषय में वे कहते हैं—

केतेहि कान्ह भये मुरलीधर, तिन्ह भी अन्त न पाया॥ शब्द 18॥
इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े, लोचन ललचि लजाय॥ चाचर 1॥
कृष्ण समीपी पाण्डवा, गले हिंवारे जाय।
लोहा को पारस मिलै, तो काहे को काई खाय॥ साखी 236॥

अर्थात—श्री कृष्ण-जैसे कितने वंशी बजाने वाले हुए, वे भी संसार को नहीं समझ सके। इन्द्र और कृष्ण सब माया के द्वार पर खड़े हैं। उनके नेत्र माया-भोगों के लिए ललचा रहे हैं और मनभर भोग न पाने से लज्जित हो रहे हैं। श्रीकृष्ण के पास रहने वाले पांडव अपने पाप-क्षय के लिए हिमालय में गल मरे। यदि लोहा को पारस-पत्थर मिल जायेगा तो उसे काई क्यों खायेगी! यदि पांडवों को परब्रह्म मिल गये थे, तो हिमालय जाने की क्या आवश्यकता थी!

श्रीकृष्ण की ईश्वरता पर इतना तीव्र तर्क देने वाले कबीर एकाएक उन्हें परमात्मा मानकर उनकी शरण में जाकर वन्दना करने लगें कि महाराज, मुझे भवजाल से बचाओ, यह कैसे हो सकता है! कबीर कोई अव्यवस्थित चित्त के व्यक्ति नहीं थे।

"बहु विधि चित्र बनाय के, हरि रचिन क्रीड़ा रास।" वस्तुतः मन ही हरि है। यही अनेक प्रकार मान्यताओं के चित्र बनाकर रासक्रीड़ा एवं विषयविलास की क्रीड़ा रचता

है। हर जीव अपने मन के बनाये विषय-वासनाओं के जाल में जीवनभर उलझता है। कोई ईश्वर जीव को फंसाने के लिए जाल रचता है, तो यह ईश्वर जीव को बन्धनों में फंसाने वाला ही है। ऐसे ईश्वर की उपासना करना घोर अविद्या है। वस्तुतः मलिन मन जीव को फंसाने के लिए जाल रचता है यह ठीक बात है। इसीलिए गंदे मन का त्याग करना उचित माना गया है। इस मन के बनाये भ्रम-हिंडोले एवं रासक्रीड़ा में सब जीव उलझे हैं। इसी भटकाव में पड़कर सब जीव पीड़ित हैं।

"जाहि न इच्छा झूलबे की, ऐसी बुधि केहि पास।" इस विषय-वासना के हिंडोले में जिसे झूलने की इच्छा न हो ऐसी बुद्धि भला किसके पास है! यह कितनी मार्मिक पंक्ति है! जो विषय-भोगों में न ललचाता हो, जिसे विषय-भोग दावानल के समान लगते हों, वे नर-नारी धन्य हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध इन पांच विषयों में आसक्त होकर तथा इनमें निरन्तर आकर्षित होकर ही जीव दयनीय दशा को प्राप्त है। मन की सबसे बड़ी दुर्बलता विषयासक्ति है। विषयासक्ति ही भवजाल है, विषयासक्ति ही भ्रम-हिंडोला है, विषयासक्ति ही जीव के लिए महारोग है। जिस जीव के मन से विषयासक्ति की निवृत्ति हो जाती है उसका मानो बेड़ा पार हो जाता है। जिसमें ऐसी बुद्धि आ जाती है कि विषयासक्ति नरक है, और जो अपने आप को उससे बचा लेता है, वह धन्य है, पूजने योग्य है।

"झूलत झूलत बहु कल्प बीते, मन नहिं छाड़े आस।" इस विषय-वासना के भ्रम-हिंडोले में झूलते-झूलते अनादिकाल का समय बीत गया है, फिर भी मनुष्य का मन उसकी आशा नहीं छोड़ता। भर्तृहरि जी कहते हैं कि मनुष्य जानता है कि वे ही दिन हैं, वे ही रात हैं, तो भी वे उन्हीं काम-धन्धों के पीछे दौड़ते हैं। मनुष्य जिन्हें अनेक बार कह और भोग चुके हैं उन्हीं क्षणिक विषयों तथा कामों में लगे रहते हैं। आश्चर्य है कि मनुष्यों को लज्जा नहीं आती।[1]

पतिंगे अनुभव करते हैं कि ज्योति में मेरे अंग जल रहे हैं, परन्तु मोहमाया का

---

1. रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वाऽबुधा जन्तवो।
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तक्रियाः॥
व्यापारै पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवंविधेनाऽमुना।
संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे॥ वैराग्य शतक 78॥
उक्त श्लोक का सुन्दर हिन्दी अनुवाद श्री प्रतापसिंह का इस प्रकार है—
वे ही निसि वे ही दिवस, वे ही तिथि वे वार।
वे उद्यम वे ही क्रिया, वे ही विषय-विकार॥
वे ही विषय-विकार, सुनत देखत अरु सूंघत।
वे ही भोजन भोग, जागि सोवत अरु ऊंघत॥
महा निलज यह जीव, भोग में भयो विदेही।
अजहूँ पलटत नाहिं, कढ़त गुण वे के वे ही॥

ऐसा आवरण है कि वे ज्योति से चिपके जाते हैं। आदमी जिन प्राणी-पदार्थों, काम-धन्धों तथा विषय-वासनाओं में पड़कर सैकड़ों और हजारों बार पछताया है, उन्हीं में पुनः डूबता है। इस संसार के हिंडोले में दुख पाते हुए भी जीव इससे सुख की आशा नहीं छोड़ता यही उसकी प्रबल मोहमूढ़ता है।

"रच्यो रहस हिण्डोरवा, निशि चारिउ युग चौमास।" मनुष्य के मन ने यह विषयानंद का ऐसा हिंडोला रचा है जो चारों युग रूपी चौमासे में रात-दिन चलता रहता है। वर्षा के चौमासे में हिंडोला पड़ता है। साहेब कहते हैं कि भवबन्धनों का हिण्डोला सब समय चलता है; क्योंकि इसका चौमासा मानो चारों युग है। युगों की कल्पना के अनुसार सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग घूम-घूमकर आते रहते हैं। अतएव यहां चारों युग कहने का अर्थ है सब समय। साहेब कहते हैं कि भवबन्धनों का भ्रम-हिण्डोला चारों युग रूपी चौमासे में रात-दिन चलता है। यह अनादिकाल से निरन्तर चलने वाला भ्रम-हिण्डोला जीव को कभी ऊंची योनियों में ले जाता है और कभी नीची योनियों में। यह कभी जीव को आकाश में ले जाता है और कभी भूतल पर ला पटकता है। यह हिण्डोला अत्यन्त भ्रमणशील है। यह कभी जरा भी नहीं ठहरता। वस्तुतः मन का ठहरना ही हिण्डोले का ठहरना है, क्योंकि मन का मोह ही हिण्डोला है। जब तक मन शुद्ध एवं शांत नहीं होगा तब तक भटकाव बन्द नहीं होगा।

"डरपत हौं यह झूलबे को, राखु यादव राय। कहैं कबीर गोपाल बिनती, शरण हरि तुम आय।" कबीर साहेब कहते हैं कि यदुपति गोपाल श्री कृष्ण को हरि मानकर भावुक जीव उनकी शरण में जाकर उनकी वंदना करते हैं कि हे यादवनाथ! हम तुम्हारी शरण में आये हैं। तुम्हारा ही रचा यह संसार-रास तथा भ्रम-हिण्डोला है। तुम्हीं इसको रोककर हमें त्राण दे सकते हो। हमें इस हिण्डोले से उतारो, संसार-सागर से बचाओ।

परन्तु जिन्हें तत्त्वविवेक है, वे समझते हैं कि जीव का भ्रम-हिण्डोला तथा जीव का भव-बंधन जीव से अलग कोई दूसरा नहीं रचा है। जीव ही ने अपने अज्ञान से अपने झूलने के लिए यह भ्रम-हिण्डोला बना रखा है। इसी को ऐसा भी कहा जाता है कि यह हिण्डोला मन का बनाया है। दोनों का सार अर्थ एक है। जीव अपनी अशुद्ध मनोवृत्ति से ही तो अपने लिए भूलवश बंधन बनाता है तथा वही अपनी शुद्ध मनोवृत्ति से उसे तोड़ सकता है। अतएव हम अपने भव-बन्धनों को बनाने के संबंध में स्वयं उत्तरदायी हैं और हमीं उन्हें तोड़ सकते हैं। न किसी दूसरे ने इसे बनाया है और न कोई दूसरा तोड़ सकता है। जैसे मनुष्य ही पान, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, शराब आदि की आदतें बनाकर उनमें उलझता है और स्वयं ही उन्हें बंधन समझकर तोड़ देता है, वैसे यह मन का भ्रम-हिण्डोला जीव ही ने अपने स्वरूप को भूलकर बना रखा है और वही अपने स्वरूप को समझकर इससे उतर जायेगा।

यहां रास तथा रहस शब्द आये हैं, अतएव लोकधारणानुसार रास के प्रवर्तक

यादव एवं गोपाल शब्द आये हैं जो श्री कृष्ण के लिए प्रयुक्त होते हैं। ये सब प्रतीकात्मक हैं।

वस्तुतः मन ही कृष्ण है, इसी ने इस भ्रम-हिण्डोले का रास रचा है। जीव अपने शुद्ध मन द्वारा ही इसे तोड़ सकता है। अतएव अशुद्ध मनरूपी हरि हिण्डोला रचने वाला है तथा शुद्ध मनरूपी हरि इसे उखाड़ फेंकने वाला है।

विवेकी झूले से अलग हो जाता है

हिण्डोला-3

लोभ मोह के खम्भा दोऊ, मन से रच्यो है हिण्डोर॥ 1॥
झूलहिं जीव जहान जहाँ लगि, कितहुँ न देखों थित ठौर॥ 2॥
चतुर झूलहिं चतुराइया, झूलहिं राजा शेष॥ 3॥
चाँद सूर्य दोउ झूलहीं, उनहुँ न आज्ञा भेष॥ 4॥
लख चौरासी जीव झूलहीं, रविसुत धरिया ध्यान॥ 5॥
कोटि कल्प युग बीतिया, अजहुँ न माने हारि॥ 6॥
धरति अकाश दोउ झूलहीं, झूलहिं पौना नीर॥ 7॥
देह धरे हरि झूलहीं, ठाढ़े देखहिं हंस कबीर॥ 8॥

शब्दार्थ—थित= स्थिति। ठौर= भूमिका। शेष= शेषनाग। रविसुत= यमराज, वासना। हरि= विष्णु, कृष्ण। हंस= विवेकी।

भावार्थ—लोभ और मोह के दो खम्भे गाड़कर मन से भ्रम-सुख का हिण्डोला खड़ा किया गया है॥ 1॥ जहां तक संसार के जीव हैं सब उसमें झूल रहे हैं। किसी को नहीं देखता हूं कि वह स्थिति-भूमिका में स्थिर हो॥ 2॥ चतुर लोग अपनी चतुराई में झूल रहे हैं, राजा अपने राज-मद में झूल रहे हैं और शेषनाग भी इस झूले पर झूल रहे हैं॥ 3॥ चांद और सूर्य, ये दोनों भी संसारचक्र में झूल रहे हैं। ये भी अपने वेष की आज्ञा नहीं टाल रहे हैं। आकाश में रहकर संसार को प्रकाश देना ही इनकी मर्यादा है॥ 4॥ चौरासी लाख योनियों के जीव वासना रूपी यम का ध्यान धारणकर, अर्थात वासना के वश होकर इस भ्रम-हिंडोले में झूल रहे हैं॥ 5॥ संसार के झूले में झूलते-झूलते करोड़ों कल्प और करोड़ों युग बीत गये, किंतु आज भी जीव उससे हार नहीं मानते॥ 6॥ धरती, आकाश, पवन तथा पानी भी झूल रहे हैं॥ 7॥ यहां तक स्वयं विष्णु देह धारण कर इस झूले में झूल रहे हैं। इस झूले को विवेकी-तटस्थ होकर देखते हैं॥ 8॥

व्याख्या—पहले हिण्डोले में भ्रम-हिण्डोला के पाप-पुण्य खम्भे कहे गये थे, इस तीसरे हिण्डोले में लोभ-मोह खम्भे कहे गये। यह केवल कथनशैली का अन्तर है, तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। देखे हुए लोक तथा सुने हुए परलोक के भोगों का

लोभ तथा अनुकूल प्राणियों के मोह में फंसकर ही तो जीव का मन भटक रहा है। यह मन ही तो हिण्डोला है और लोभ-मोहादि विकारों के शांत हो जाने पर मन का हिण्डोला शांत हो जाता है।

"झूलहिं जीव जहान जहाँ लगि, कितहुँ न देखों थित ठौर।" जहां तक संसार का विस्तार है और उसमें जितने जीव हैं सब झूल रहे हैं। जो मूर्ख हैं वे तो झूल ही रहे हैं, चतुर कहलाने वाले भी झूल रहे हैं। चतुर लोग अपनी चतुराई में झूल रहे हैं। जो संसार के भोगों में चतुराई दिखाता है वह मन के चक्कर में और झूलता है। राजा और शेष दोनों इस भ्रमचक्र में झूल रहे हैं। वैसे शेष स्वयं राजा थे। इसलिए राजा शेष का विशेषण मानकर भी समझा जा सकता है कि राजा शेषनाग भी इस भ्रम-हिंडोले में झूल रहे हैं। डॉ. रांगेय राघव लिखते हैं—"विष्णु आर्यों का बड़ा देवता है। नागजाति में प्रसिद्ध शेषनाग उनका पहला राजा था जो विष्णु का मित्र था। शेष के बाद वासुकि राजा था, वह देवों का मित्र था।"[1]

"चाँद सूर्य दोउ झूलहीं, उनहुँ न आज्ञा भेष।" चांद तथा सूर्य जड़पिंड हैं। इनका अपना वेष, अपनी मर्यादा है विश्व को प्रकाश देना। ये अपने नियमों का उल्लंघन न करते हुए निरन्तर प्रकृतिक्षेत्र में झूल रहे हैं। इसी प्रकार सद्गुरु धरती, आकाश, पवन, पानी कहकर प्रकृति-समुच्चय का मानो नाम ले लेते हैं और कहते हैं कि ये सब झूल रहे हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि जड़प्रकृति तथा उसके स्थूलपिंड अपने स्वाभाविक क्रियाओं से निरन्तर गति कर रहे हैं। उनमें न मन है, न चेतना तथा न काम, क्रोधादि। इसलिए उनका निरन्तर चक्कर काटना उनके लिए कोई दुख उत्पन्न करने वाला नहीं है। आदमी या अन्य प्राणी दौड़ते हैं तब वे थक जाते हैं, परेशान होते हैं, परन्तु हवा एवं पानी की धारा दौड़ती है तो उन्हें कोई परेशानी नहीं; क्योंकि जहां से सुख-दुखों की उत्पत्ति होती है वह चेतना है, और वह उनमें है नहीं। जीव के चक्कर काटने के साथ सद्गुरु ने चांद, सूरज, पवन, पानी, पृथ्वी आदि को भी गिनाकर यह बता दिया कि चेतन के साथ जड़प्रकृति भी निरन्तर गतिशील है। जड़ की गतिशीलता स्वभावसिद्ध है। वह कभी स्थिर नहीं हो सकता। उसे अपनी गति में कोई हैरानी भी नहीं है, किन्तु चेतन की गतिशीलता वासनावश है, इसलिए उसे हैरानी है। जड़ स्वभाव से गतिशील है इसलिए वह रुक नहीं सकता, किन्तु चेतन वासनावश गतिशील है इसलिए वह वासना त्यागकर स्थिर एवं अपने स्वरूप में शांत हो सकता है।

सद्गुरु कहते हैं कि जीव नाना योनियों में रविसुत का ध्यान धारणकर झूल रहे हैं। पौराणिक कथानुसार यमराज रवि के पुत्र हैं। यह तो प्रतीक मात्र है। वस्तुतः मन की वासनाएं ही यमराज हैं। इन्हीं वासनाओं को अपने ध्यान में रखकर जीव भटक

---

1. महायात्रा गाथा, भाग 1, अध्याय 2, पृ. 61।

रहा है। यदि वासनाएं छोड़ दे तो वह कृतार्थ हो जायेगा।

साहेब कहते हैं "कोटि कल्प युग बीतिया, अजहुँ न माने हारि।" कोटि कल्प युग का अर्थ अनादिकाल है। अनादिकाल का समय बीत गया है किन्तु जीव आज भी इस झूले से हार नहीं मानता। संसार के झूले में जीव अनादिकाल से संकट सहता आ रहा है, परन्तु वह उससे थकता नहीं है। संसार के विषयों में सारे दुख भोगते हुए भी उनसे उसे घृणा नहीं हो रही है। जिसे घृणा हो जाती है वह सबसे विरक्त हो जाता है। विरक्ति ही झूले से छूटने का तरीका है।

"देह धरे हरि झूलहीं, ठाढ़े देखहिं हंस कबीर।" साहेब कहते हैं कि लोग विष्णु को या राम-कृष्णादि को ब्रह्म मानते हैं, किन्तु वे भी देह धारणकर झूल रहे हैं। देह में ही नहीं, किन्तु सांसारिक वासनाओं में भी झूल रहे हैं। इसे केवल विवेकी साक्षी बनकर देखते हैं।

"ठाढ़े देखहिं हंस कबीर" में यह प्रश्न हो सकता है कि 'भ्रम-हिण्डोले' पर झूलते हुए सब जीवों को देखने वाले हंस या विवेकी पुरुष भी शरीर धारणकर ही देखते हैं, फिर शरीरधारी होने से वे भी उसी हिण्डोले पर सिद्ध हुए? उत्तर में समझना चाहिए कि आज तक तो वे भी इस झूले पर अवश्य थे, परन्तु अब उन्हें ज्ञान हो गया है। वे खानी-वाणी के सुख-भ्रम-हिण्डोले की दुखरूपता को समझ लिये हैं और उससे रहित हो गये हैं। परन्तु पूर्वजन्मों के प्रारब्ध कर्मवश स्थूल शरीर है। उसका निर्वाह आसक्ति-रहित होकर कर रहे हैं। जैसे बीज भून देने पर पुनः अंकुर नहीं फूटते, इसी प्रकार स्वरूपज्ञान तथा वैराग्यादि समस्त हंसगुण से चलकर सर्वासक्ति मिटा देने पर पुनः जीव संसार के जन्मादि चक्कर में नहीं आता। अतएव विवेकी पुरुष 'भ्रम-सुख-हिण्डोला' से उतरकर स्व-स्वरूप चेतन में स्थित हैं। वे शरीर रहे तक संसार-हिण्डोला के द्रष्टा रहकर उससे सुज्ञ जीवों को उतारकर स्वरूपस्थिति राज्य देते हैं।

सामान्य मनुष्य ज्ञानी पुरुषों को भी अपने सदृश खाते-पीते, सोते-जागते देखता है। तब वह सोचता है हमारे और इनमें क्या अन्तर है! परन्तु ज्ञानी के अन्तस्तल की उच्चस्थिति सामान्य मनुष्य क्या समझ सकता है! इस संसार-रहंटचक्र को ज्ञानी दुखों से पूर्ण देखता है। वह लोकहित की दृष्टि से शुभकर्म करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं होता और अशुभ कर्म तो उससे होते ही नहीं। प्राणी, पदार्थ, अवस्था, परिस्थिति तथा पांचों विषयजगत के संस्कार ही जीव को बारम्बार जन्म-मरण में घुमाते हैं, इस रहस्य को भली-भांति समझकर विवेकी इनसे विरक्त रहता है।

जिसने समस्त दृश्य का राग अर्थात मोह छोड़ दिया है, जो अनुकूल-प्रतिकूल की आसक्ति और द्वेष में नहीं फंसता, जो अनुद्वेग तथा क्रोधरहित है, जो मन, वाणी, कर्म से गुप्त-प्रकट काम पर पूर्णरूपेण विजयी है, जो समता, शीतलता, दयालुता, मानवता से पूर्ण है, जिसका मन किसी पदार्थ में फंसा हुआ नहीं है, जिसका चित्त निर्मल है, जो

अपना कहे जाने वाले शरीर की ममता को छोड़ चुका है, जो जीवन तथा उसके सारे वैभव को तृणवत समझता है, जो अपने स्वरूप राम में ही निरन्तर रमण करने वाला है, वह शरीर में स्थित हुआ भी मानो अशरीर ही है। अन्यों की भांति खाते-पीते, सोते-जागते दिखते हुए भी उसकी मानसिक स्थिति बड़ी उच्च होती है।

ज्ञानी समझता है कि जिन प्राणी-पदार्थों के प्रति हमारे मन में आज महान आकर्षण है, उनका वियोग निश्चित है। उस वियोगकाल को बीत गये कभी हजारों, लाखों और करोड़ों वर्ष तथा कल्पों हो जायेंगे, फिर इन सब में क्या रखा है! अतएव अपने से भिन्न समस्त दृश्यों को विवेक से पृथक कर ज्ञानी अपने आप में ही रमण करता है। इसलिए वह लोकदृष्टि में संसार-शरीर में रहते हुए भी वास्तव में—ज्ञान की स्थिति में—उससे सर्वथा पृथक है।

ज्ञानी पुरुष संसार की अवहेलना नहीं करता और न उसका दुरुपयोग ही करता है। वह तो उसके साथ सुन्दर बरताव करता है। जो भोगों का त्यागी है उसी का बरताव दूसरों के लिए उज्ज्वल हो सकता है, क्योंकि वह निस्स्वार्थी होता है। अतः ज्ञानियों तथा सच्चे सन्तों द्वारा समाज का बहुत बड़ा कल्याण होता है। भौतिकता की चरमोन्नति के शिखर पर पहुंच जाने पर भी आत्मशांति नहीं मिलती। उसके लिए तो सन्तों द्वारा निर्दिष्ट अन्तर्मुख साधना ही है। प्रमादवश इसकी कोई अवहेलना भले करे, किन्तु इसका अपलाप असम्भव है।

सारांश यह है कि स्थितिवान-ज्ञानी पुरुष समाज का कल्याण करते हुए तथा अपना शरीर-निर्वाह लेते हुए निरन्तर ऐसी अतीन्द्रिय अवस्था एवं दिव्य स्थिति में रहते हैं जिसका विवरण जिह्वा नहीं दे सकती, साधना कर और उस अवस्था को प्राप्त करके अनुभव किया जा सकता है। कारावास में बन्दी-अपराधी भी रहता है और उसमें शिक्षक तथा डॉक्टर भी रहते हैं। परन्तु बन्दी पराधीन है और शिक्षक तथा डॉक्टर स्वतन्त्र हैं। इसी प्रकार संसार-शरीर में ज्ञानी-अज्ञानी दोनों रहते हैं, किन्तु ज्ञानी आसक्ति-विरहित मुक्तात्मा है और अज्ञानी आसक्ति में, विषय में आबद्ध है।

जिस 'भ्रम-सुख-हिण्डोले' पर बैठकर जीव अनादिकाल से जन्म-मरण में झूल रहा है, उस दुखमय हिण्डोले का परिचय देकर सद्गुरु ने उससे हंसों को छुड़ाया। अब स्वरूपस्थिति की रहनी धारण करने के लिए अगला विस्तृत साखी प्रकरण कहते हैं।

फल छन्द

सुनि पुकार दयालु के,
कुछ ध्यान आया जीव के।
सत्ता समेटा वेगि के,
लहि शान्त सत्य सुशीव के॥
मनदृढ़ विवेक-विराग के,
गुरु-भक्ति शुभ मग लीव के।
निज पर्ख अविचल धाम के,
विश्राम निर्भय धीव के॥

चौपाई

को है झूलत कौन है हेतू।
सो परखाय करायो चेतू॥
चेतन स्वतः शान्त ह्वै केतू।
धन्य-धन्य गुरु महिमा लेतू॥

साखी

हेतु छन्द

सत्य साक्षी कौन है,
सब थापता सो कौन है?
अनुमान औ परत्यक्ष किसको,
भासता वह कौन है?॥
साखी गवाही करि प्रमाणित,
पन्थ नाना गौन है।
इस हेतु साखी बैन से,
भ्रम-भूल हनि गुरु तौन है॥

दोहा

साक्ष्य-भास सब दुर लखे, तन-मन दुख लखि त्याग।
दुख त्यागक द्रष्टा परख, साक्षी लक्ष्य स्व पाग॥

सद्गुरवे नमः

बीजक

(पारख-प्रबोधिनी व्याख्या-सहित)

एकादश प्रकरण : साखी

मानव जीवन एवं मन का महत्त्व

साखी

जहिया जन्म मुक्ता हता, तहिया हता न कोय।
छठी तुम्हारी हौं जगा, तू कहाँ चला बिगोय॥ 1॥

शब्दार्थ—जहिया= जब। जन्म मुक्ता= मुक्त जन्म, स्वतन्त्र नरजन्म। हता न कोय= अन्य तीन खानियों के विवशताकृत बंधन नहीं थे। छठी= मन। हौं= अहंकार।

भावार्थ—जब-जब जीव स्वतन्त्र नरजन्म में था या वर्तमान में है, तब-तब मानवेतर अन्य तीन खानियों के विवशताकृत बंधन नहीं थे और न आज हैं। परन्तु हे जीव! तू मन में अहंकार जागृतकर और अपने आप को खोकर कहां जा रहा है? ॥ 1 ॥

व्याख्या—'जहिया जन्म मुक्ता हता' का तात्पर्य 'जब जीव मुक्त था' करना योग्य नहीं। क्योंकि मूल पद में 'जहिया जीव मुक्ता हता' नहीं है, बल्कि 'जन्म मुक्ता' है। जन्म से नरजन्म का अभिप्राय है और मुक्ता से स्वतन्त्र। अर्थात मनुष्य-जन्म स्वतन्त्र साधन करने का क्षेत्र है और अन्य तीन खानियों की विवशताओं से रहित है। यदि जीव अन्य तीन खानियों में होता, तो कल्याण-साधना नहीं कर सकता। इसके लिए मनुष्य-शरीर ही योग्य है।

मनुष्य और मनुष्येतर खानियों में जो अन्तर है, वह स्पष्ट है। मनुष्य में मन की विशेषता है तथा अन्य खानियों के देहधारियों में शरीर-इंद्रियों की विशेषता है। वैसे सभी खानियों के जीवों के पास देह, इंद्रिय तथा मन हैं। परन्तु मानवेतर खानियों में देह-इंद्रिय की विशेषता है। मछली, हाथी आदि के समान मनुष्य भारी-भरकम नहीं होता। पक्षी के समान मनुष्य उड़ नहीं सकता। चींटी के समान दूर तक सूंघ नहीं सकता। गिद्ध के समान दूर तक देख नहीं सकता। घोड़े और नीलगाय के समान तेज दौड़ नहीं सकता। गधे-खच्चर के समान बोझा ढो नहीं सकता। पशु के बच्चे के समान जन्मते ही तैर नहीं सकता। पशु, पक्षी और कीड़े बिना सिखाये जैसे अपनी

स्वाभाविक कला में निपुण होते हैं, जैसे बया पक्षी का घोंसला बनाना, मधुमक्खियों का मधुरस इकट्ठा करना आदि, वैसे मनुष्य बिना सिखाये कोई कला का ज्ञाता हो नहीं सकता। इस प्रकार मानवेतर खानियों के जीवों में शरीर और इंद्रियों की विशेषता होती है।

मानव में मन की विशेषता है। 'मननात् मनुष्यः' मनन तथा विवेक करने के कारण ही मानव मनुष्य है। मानवेतर खानियों में मनन एवं विवेक नहीं है। यद्यपि वहां भी मन है। वे मन से अपने जीवन की मुख्य घटनाओं को याद रखते हैं। जैसे पशु दिन भर जंगल में चरते हैं, परन्तु शाम को अपने रहने के घर में आकर अपने खूंटे पर खड़े हो जाते हैं। पक्षी शाम को अपने घोंसले में आ जाते हैं तथा चींटियां अपने बिल में आ जाती हैं। मानवेतर प्राणी भी अपने जीवन-गुजर की क्रिया कर लेते हैं। मानव उनमें से कुछ ही देहधारियों को कुछ कला सिखा सकता है। परन्तु विशेष कला, विशेष ज्ञान उन्हें नहीं सिखाया जा सकता। जड़-चेतन, बन्ध-मोक्ष का भेद आदि उन्हें कुछ नहीं सिखाया जा सकता।

मानवेतर खानियों में प्राकृतिक संयम है। ज्ञान देकर उन्हें पूर्ण संयमी नहीं बनाया जा सकता। अधम कुत्ते भी केवल कार्तिक में कामांध होते हैं। अन्य महीनों में संयमी होते हैं। कितने ही पशु-पक्षी वार्षिक, छमाही, तिमाही आदि अपनी प्राकृतिक अवधि में ही नर-मादा संयोग करते हैं और प्रजनन करते हैं। परन्तु मनुष्य में यदि ज्ञान न हो तो वह हर समय कामी बना रहता है। उसमें प्रकृति की तरफ से संयम है ही नहीं। परन्तु मानवेतर प्राणी शिक्षा से ब्रह्मचारी नहीं बन सकते और मनुष्य शिक्षा एवं ज्ञान पाकर अखंड ब्रह्मचारी बन जाता है। मानवेतर प्राणियों में मन का जितना प्राकृतिक विकास है, बस उतना ही रहता है। उनमें शिक्षा से कोई ज्यादा विकास की संभावना नहीं है; किन्तु मनुष्य में शिक्षा द्वारा मन के विकास का विशाल क्षेत्र है। मनुष्य के मन में ज्ञान की अनन्त संभावनाएं हैं। अतएव मानव की विशेषता उसके विकासशील मन से है।

यह भी सच है कि मानवेतर प्राणियों में विकासशील मन न होने से वे ज्यादा दुखी नहीं रहते। एक पशु के सामने चारा डाल दो, वह उसे खायेगा। जब पेट भर जायेगा तब वह चिन्ता नहीं करेगा कि बचे हुए चारे को सुरक्षित रखूं और इसे कल खाऊंगा। वह उसी चारे पर टट्टी-पेशाब कर देगा। उसी पर बैठ जायेगा। कल क्या खाऊंगा, इसकी उसे चिन्ता नहीं है। किन्तु मनुष्य सालभर के खाने की वस्तु घर में सुरक्षित रखकर भी चिन्ता करता है कि आगे क्या खाऊंगा! एक बूढ़ा बैल शायद यह नहीं सोचता होगा कि मैं जवान हो जाऊं; परन्तु एक बूढ़ा आदमी सोचता है कि मैं जवान हो जाता, तो कितना अच्छा होता! मन की उलझनों के कारण इस संसार में केवल मनुष्य पागल होता है। घोड़ा, गधा, बैल आदि मानवेतर प्राणियों को आपने कभी पागल होते नहीं देखा होगा। हां, खोपड़ी में कीड़े पड़ने पर कुत्ते तथा मद चढ़ने

पर हाथी पागल हो जाते हैं, परन्तु ये दोनों ही भौतिक कारण से पागल होते हैं, मन की उलझन से नहीं। मन की उलझन से केवल मनुष्य पागल होता है। जो मनुष्य खुले रूप में पागल हो जाते हैं और गाली देते, अपने कपड़े फाड़ते तथा अंट-संट क्रिया करते घूमते हैं, वे तो पागल हैं ही। जो ऐसे नहीं होते हैं, स्वस्थ और सभ्य दिखते हैं, वे भी भीतर-भीतर पागल होते हैं। यदि एक बूढ़ा कहता हो कि मैं बाईस वर्ष का नौजवान हूं, एक दरिद्र अपनी टूटी झोपड़ी में बैठा यदि कहता हो कि मैं करोड़पति हूं, तो आप यही तो कहेंगे कि ये पागल हैं। यदि ऊपर से स्वस्थ और सभ्य लोगों के मन में भी ऐसी भावनाएं उठती रहती हैं, तो लोग पागल ही हैं। फरक यही है कि ये सभ्य पागल हैं। इस प्रकार जो मानव खुले रूप में पागल हैं वे तो पागल हैं ही, शेष भीतर-भीतर पागल हैं।

इसका कारण है मनुष्य के पास विकासशील मन का होना। मनुष्य का मन इतना अधिक सोचने की क्षमता रखता है कि यदि उसे ज्ञानपूर्वक नहीं रखा जाये, तो वह मनुष्य को पागल बनायेगा ही; परन्तु यदि उसे ज्ञानपूर्वक रखा जाये तो वह अपने तथा दूसरे के कल्याण का कारण बन जायेगा।

एक बार हम काशी-वास में थे। वहां पुस्तकें छप रहीं थीं। हम एक पुस्तक खरीदने के लिए चौक में गये। वहां न मिली। ज्ञानवापी पर गये। एक पुस्तकालय पर खड़े हुए। दुकानदार कोई पचास वर्ष की उम्र का मल्ल प्रौढ़ शरीर का मस्तमौला आदमी था। उसने हमसे छूटते ही कहा—"महाराज, यदि कहीं ईश्वर-विश्वर होता हो, तो उससे कह दीजियेगा कि मुझे अगला जन्म मनुष्य का न दे। वह मुझे बैल, कुत्ता, घोड़ा, पक्षी कुछ भी बना दे, किन्तु मनुष्य न बनाये। बैल होता तो जैसे टट्टी की हाजत लगती, तुरन्त दस सेकेंड में वहीं टट्टी कर देता। दुर्भाग्य से मनुष्य हूं। जब टट्टी लगती है तब गमछा, साबुन, लोटा लेकर टट्टी घर और बाथरूम में जाना पड़ता है। आधा घण्टा लग जाता है। महाराज, आप पुस्तक खरीदने के चक्कर में यहां भटक रहे हैं।"

मुझे उसकी बातों पर हंसी आ गयी। उसकी बातों में भी सार था। पशु मनुष्य से ज्यादा निश्चिंत होता है। परन्तु उसमें संभावनाएं कुछ भी नहीं हैं। मनुष्य में बड़ी संभावनाएं हैं। मानवेतर प्राणियों का मन विकासशील न होने से वे विवश हैं। मनुष्य का मन विकासशील होने से वह सोचने में स्वतन्त्र है। यदि मनुष्य विवेकपूर्वक सोचे तो उसे अपने बन्धनों को खोलने में स्वतंत्रता है। यदि वह अविवेकपूर्वक सोचता है, तो अपने को अधिक बांध लेता है। जिसके पास शक्ति है, वह उसका सदुपयोग करे तो वह अपने तथा दूसरे के लिए कल्याणप्रद हो जायेगी और यदि दुरुपयोग करे, तो अकल्याण करने वाली हो जायेगी।

"जहिया जन्म मुक्ता हता, तहिया हता न कोय" यह मानवीय स्वतंत्रतापरिचायक महामंत्र है। जीव जब-जब मानव-शरीर में रहता है, तब-तब उसके पास मानसिक

विवशता का कोई बंधन नहीं रहता। त्याग से ही बन्धन कटते हैं और त्याग करने में मनुष्य सर्वथा स्वतंत्र है। बाहर के प्राणी, पदार्थ, स्थान का त्याग मनुष्य जब चाहे कर सकता है और भीतर के काम, क्रोध, लोभ, मोह, देहाभिमान आदि का त्याग भी जब चाहे कर सकता है। अतएव मानव अपना कल्याण करने में सर्वथा स्वतन्त्र है।

"छठी तुम्हारी हौं जगा" छठे में तुम्हें अहंकार जगा। आंख, नाक, कान, जीभ तथा त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर छठां मन है। बीजक में जहां कहीं भी छठां[1] कहा गया है, वहां प्रायः मन का अभिप्राय है। हम बाहरी पांच विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध को क्रमशः कान, त्वचा, आंख, जीभ तथा नाक इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों से जानते हैं। परन्तु भीतर सुख-दुख आदि का ज्ञान मन से होता है। इसलिए बाह्य पांच ज्ञानेन्द्रियों के बाद भीतर एक मन भी इंद्रिय है। हम पांचों ज्ञानेन्द्रियों को बाह्यकरण कहते हैं और भीतर ज्ञान के साधन को अन्तःकरण कहते हैं। करण कहते हैं ज्ञान के साधन को। बाह्यकरण पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं तथा अन्तःकरण मन है। अतएव मन पांच ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर छठां है।

सद्गुरु कहते हैं मन बहुत काम की चीज है। विकासशील मन ही तो मनुष्य के जीवन में प्रमुख स्थान रखता है। उसी को विवेकपूर्ण बनाकर जीव का कल्याण होता है। दुर्भाग्य यह है कि उसी मन में मनुष्य को अहंकार जगता है। जो मन विनम्र और विशुद्ध बनकर मनुष्य के कल्याण में साधन बनता है, वही मन जब अहंकार से भर जाता है, तब गंदा बनकर मनुष्य के कल्याण का शत्रु बन जाता है। सद्गुरु कहते हैं "तू कहाँ चला बिगोय।" मन में अहंकार भरकर तू अपने को कहां खो चला!

बाह्य प्राणी, पदार्थों, नाम, रूपों एवं विविध कल्पनाओं का अहंकार मन में भर लेना, यही बन्धन है, और इन सारे अहंकारों को मन से निकालकर उसे खाली कर लेना, शुद्ध कर लेना, यही मोक्ष है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे जीव! तू स्वतन्त्र मानव-जन्म पाया, अद्भुत शक्तिसम्पन्न विकासशील मन पाया; परन्तु तू उससे कल्याण का काम न करके, उलटे मन में संसारी अहंकार भरकर अपने को खो रहा है। अभी भी जाग।

छठीं का अर्थ हंस-भूमिका भी किया जाता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय एवं आनंदमय—इन पांच कोशों के ऊपर हंस-भूमिका है। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

1. अन्नमयकोश—अन्न से सुरक्षित रहने वाला इन्द्रियों का समूह शरीर अन्नमयकोश कहलाता है।

---

1. छठयें माँ सब गयल बिगोई॥ रमैनी 37॥
छठयें माह दरश सो पावै॥ रमैनी 52॥
छप्पर बाँचे घर जरे साखी॥ 68॥

2. प्राणमयकोश—अपान, समान, व्यान, उदान और प्राण इन पांच प्राणों का समूह, जो स्थूल देह-इन्द्रियों को सत्ता देता है।

3. मनोमयकोश—सब स्मृतियों (यादगीरियों) का जो केन्द्र मन है, और प्राणमयकोश को सत्ता देता है।

4. ज्ञानमयकोश—सत्य-असत्य निर्णय करने का साधन जो बुद्धि है, और मन को सत्ता देती है।

5. आनंदमयकोश—अहंकारजनित आनंद का समूह जो बुद्धि को सत्ता देता है।

उक्त पांचों कोश जीव के ऊपर आवरण हैं। इनकी वासना हंस-भूमिका में कटती है। मनुष्य के हृदय में जो मानवता, सद्‌गुण एवं विवेक-भूमिका है उसे हंस-भूमिका कहते हैं। हंस-भूमिका के संक्षिप्त लक्षण हैं—दया, शील, सत्य, धैर्य, विचार, स्वरूपज्ञान, वैराग्य और गुरुभक्ति। इसके अतिरिक्त अद्रोही, समता, मित्रजीव, अभय, अद्रुतनयन, क्षुधानिवारण, प्रियवचन, शांतिबुद्धि, पारखप्रत्यक्ष, सर्वसुखप्रकट, निर्णय, निर्विंद, प्रकाश, स्थिर, क्षमा, मिथ्यात्याग, सत्यग्रहण, निस्संदेह, साधुसेवन, हंतानिरसन, अस्ति-नास्तिपद निर्णय, यथार्थशुद्ध व्यवहार, यथार्थ पारख (विवेक) टकसार, बोध हेतु वेदादि वाणियों का ग्रहण।[1] यह सब हंस-भूमिका या हंस-देह के लक्षण हैं। इसको दैवीसंपदा, साधु संपत्ति एवं सद्‌गुणसमूह कह सकते हैं।

इस विवरण के अनुसार "छठी तुम्हारी हौं जगा" का अर्थ होगा कि हे जीव! तुम्हारी कल्याण करने की भूमिका तो छठीं हंसदशा है। तू उसे छोड़कर कहां माया में बहा जा रहा है।

छठीं का अर्थ जीव भी किया जा सकता है। धनौती कबीर मठ की बीजकटीका गुरुगमबूझ में यह बात जगह-जगह आयी है कि पांच तत्त्व छठम जीव। पांच तत्त्वों, पांच विषयों के ऊपर छठा जीव है। अतएव हे साधक "छठीं तुम्हारी' अर्थात तुम्हारी स्थिति तो पांच तत्त्व एवं पांच विषयों से रहित छठे जीव में है। अर्थात तेरी स्थिति तेरे अपने चेतनस्वरूप में है। तू अपनी स्वरूपस्थिति छोड़कर कहां भटका जा रहा है!

शब्दों की महत्ता और उनका मूल्यांकन

शब्द हमारा तू शब्द का, सुनि मति जाहु सरक।
जो चाहो निज तत्त्व को, तो शब्दहि लेह परख॥ 2॥

शब्दार्थ—शब्द=सारशब्द, निर्णय वचन। सरक=खिसक, पतित। निजतत्त्व=अपना मूल स्वरूप चेतन।

भावार्थ—हे मानव! जो हमारे निर्णय वचन हैं, तुम उनके अधिकारी हो, परन्तु

---

1. पंचग्रन्थी, गुरुबोध, प्रश्न 5।

उन्हें सुनकर खिसक न जाओ, प्रत्युत उनका आचरण करो। तुम यदि अपने मूल स्वरूप का बोध चाहते हो, तो सार-असार शब्दों की परख करो॥ 2॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर की वाणियां तथा उपदेश देश, जाति, संप्रदाय की संकुचित भावनाओं से परे, निष्पक्ष, सार्वभौमिक एवं यथार्थ-दर्शक हैं। अतः मानव मात्र उनका अधिकारी है। वे कुछ ऐसा कर्मकांड नहीं बता रहे हैं जिसे कोई एक समुदाय ही मान सके। उनकी सारी वाणियां, उनकी सारी शिक्षाएं जन-जन के लिए महौषधि हैं।

"शब्द हमारा तू शब्द का" यह वाक्यांश ध्यान देने योग्य है। 'जो हमारे शब्द हैं तू उनका अधिकारी है।' यहां शब्द से अर्थ उपदेश एवं विचार हैं। कबीर साहेब के द्वारा दिये गये उपदेश केवल उन्हीं के नहीं हैं, किन्तु मानो पूरी सत्ता द्वारा दिये गये उपदेश हैं। क्योंकि वे परम सत्य हैं। इसलिए उनके उपदेशों का मानव मात्र अधिकारी है। जो परम सत्य होता है वह सबका अपना होता है। हवा, पानी, आकाश, सूरज आदि सबके हैं। इसी प्रकार यथार्थ निर्णय सबके हैं।

"सुनि मति जाहु सरक।" यह वाक्यांश कहकर सद्गुरु अपने श्रोताओं को झकझोर देते हैं। संसार में श्रोताजन अधिकतम उपदेशों की यही दशा करते हैं। वे सुनते हैं, परन्तु सुनकर और उन्हें वहीं छोड़कर खिसक जाते हैं। वे प्रायः उनका आचरण नहीं करना चाहते। क्योंकि आचरण करने में त्याग की आवश्यकता होती है। हर मनुष्य कम-ज्यादा मात्रा में विषयासक्त है। विषयासक्ति त्याग मार्ग में बाधक है। इसको जीते बिना कोई न त्याग मार्ग में आगे बढ़ सकता है, न धर्म और अध्यात्म के उपदेशों का आचरण कर सकता है। विषयासक्ति का अर्थ केवल काम-भोग न लेना चाहिए, किन्तु मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि का मोह भी है। दृश्यमात्र का मोह विषयासक्ति है। भोजन के गुणों का केवल वर्णन करने से तृप्ति नहीं होगी, किन्तु उसे पकाकर खाने से तृप्ति होगी। इसी प्रकार केवल उपदेश सुनना पर्याप्त नहीं है; किन्तु उसके आचरण करने से जीवन में संतोष मिलेगा।

"जो चाहो निज तत्त्व को, तो शब्दहि लेहु परख।" 'निज तत्त्व' बड़ा महत्त्वपूर्ण शब्द है। तत्त्व कहते हैं वास्तविकता, सार एवं स्वरूप को। संसार में मुख्य दो तत्त्व हैं 'निजतत्त्व' तथा 'परतत्त्व'। 'परतत्त्व' जड़ दृश्य है जो पांच विषयरूप है। 'निजतत्त्व' 'मैं' के रूप में विद्यमान चेतन है जो अपना स्वरूप है, सार है, वास्तविकता है। मनुष्य परतत्त्व-जड़-विषयों में रात-दिन बहता है। उसे निजतत्त्व का भान ही नहीं है। सारे क्लेशों की जड़ यही है। जिसे अपने धन का पता न हो, वह घूर पर एवं कचड़े में दाने ही तो बीनेगा! स्वरूपज्ञान बिना लोग कचड़े में दाने बीन रहे हैं। वे क्षणभंगुर जड़ दृश्य विषयों में आनन्द खोज रहे हैं। बाहर की चाहे जितनी चीजें मिलें, वे एक दिन छूट जायेंगी, परन्तु 'निजतत्त्व' निज से कभी अलग हो ही नहीं सकता। मेरी अपनी आत्मा, मेरा अपना चेतनस्वरूप, मेरा अपना निजतत्त्व है। विवेकी पारखी संतों के

सत्संग में इसको ठीक से समझना चाहिए और समझकर निजतत्त्व में स्थित होना चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं कि निजतत्त्व का ज्ञान एवं निजतत्त्व में स्थिति चाहते हो "तो शब्दहि लेहु परख।" संसार में अध्यात्म के नाम पर अपार शब्दों की गूंज है। वे सभी शब्द 'निजतत्त्व' के सच्चे परिचायक नहीं हैं। अध्यात्म के नाम पर ऐसे-ऐसे शब्द हैं जो मनुष्य को 'निजतत्त्व' से दूर ले जाकर पटक देते हैं। संसार में ज्यादा धार्मिक एवं आध्यात्मिक लोग तो 'निजतत्त्व' के होशहवास में नहीं हैं। वे अपने लक्ष्य को सदैव अपने से बाहर ही खोजते रहते हैं। इसलिए उनके द्वारा उच्चरित वाणियां भी इतनी विशाल हैं कि नये जिज्ञासु उन्हीं में भटकते रहते हैं।

सद्गुरु कबीर परम पारखी हैं। वे कहते हैं कि यदि तुम निजतत्त्व चाहते हो तो शब्दों की परख करो। कौन-सा शब्द निर्णयपूर्ण एवं सार है और कौन-सा शब्द भ्रांतिपूर्ण एवं असार है, इसकी परख बिना रास्ता नहीं मिलेगा। महापुरुष, शास्त्र एवं विशाल जनसमुदाय जो कहता है वह सच है—इस धारणा का मोह छोड़ना पड़ेगा। बड़े पुरुष, शास्त्र एवं विशाल जनसमुदाय सब आदरणीय है; परन्तु सबकी बातों पर विचारकर तब उनका ग्रहण अथवा त्याग करना उचित है।

उलझनभरी वाणियों का परिचय देते हुए श्री तुलसीदास जी भी कहते हैं— "रोचक, भयानक तथा यथार्थ तीन प्रकार के शब्द हैं। वर (श्रेष्ठ-विधि योग्य), विघटन (खण्डन योग्य) दोनों प्रकार के शब्द केश के लट के समान एक में लिपटे हैं। बंधनों के कारणरूप अविरल (सघन) वाणी का अल (पसारा) होने से अयुक्त वाणीरूप पानी को पीकर अज्ञानी जीव भूले हैं।"

त्रिविधि भाँति के शब्द वर, विघटन लट परमान।
कारन अविरल अलपियत, तुलसी अविध भुलान॥ सतसई॥

इसलिए पारखी सन्तों की संगत करो, स्वयं पारखी बनो और परखकर सार-सत्य को मानो, असत्य को छोड़ो। 'निजतत्त्व' एवं अपना चेतनस्वरूप ही अपनी वास्तविकता है। इसे सत्संग-विवेक से ठीक से जानकर, इसी में स्थित होओ।

शब्द हमारा आदि का, शब्दै पैठा जीव।
फूल रहन की टोकरी, घोरे खाया घीव॥ 3॥

शब्दार्थ—आदि= मूल, मुख्य, सत्य। घोरे= घोर, मट्ठा, छांछ, कल्पित वाणी। घीव= घी।

भावार्थ—हमारे निर्णय शब्द जीव के मूल स्वरूप के परिचायक हैं। परन्तु जीव भ्रामक शब्दों में घुसा पड़ा है। मानव-शरीर तो सारशब्द रूपी फूल रखने की टोकरी है। जैसे घी मट्ठा में पड़ा रहने से खराब हो जाता है, वैसे जीव भ्रामक शब्दों में पड़ा रहने से पतित हो जाता है॥ 3॥

व्याख्या—"शब्द हमारा आदि का" इस साखी का प्रथम चतुर्थांश है। इसमें

आया हुआ 'आदि' बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'आदि' के दो मुख्य अर्थ होते हैं, एक 'मूल' तथा दूसरा 'आरम्भ'। 'मूल' अर्थ वस्तु की वास्तविकता का परिचायक है और 'आरम्भ' शब्द किसी कालखण्ड में शुरू होने वाली गतिविधि का परिचायक है। इस साखी में आदि का अर्थ मूल है। इसके पूर्व की साखी में सद्गुरु 'निजतत्त्व' बता आये हैं। वही निजतत्त्व यहां आदि है, मूल है। सद्गुरु कहते हैं कि हमारे उपदेश मूलस्वरूप एवं निजतत्त्व के परिचय देने वाले हैं। आपने 37वीं रमैनी की साखी में भी कहा है कि बीजक गुप्त धन को बताता है, वैसे मेरे बीजक-शब्द शरीर में गुप्त जीव के स्वरूप को बताते हैं। अतएव सद्गुरु कबीर के सारे उपदेश स्वरूपज्ञान के लिए हैं।

"शब्दै पैठा जीव" यद्यपि मनुष्यजीव शब्दों की कुंडली एवं परिमंडल में सदैव घुसा पड़ा है; परन्तु वह निर्णय शब्दों से दूर है। वह सदैव सार तथा असार मिश्रित शब्दों में पड़ा है। मानव के भीतर-बाहर सदैव शब्द ही गूंजते हैं। नाना प्रकार के शब्दों से ही राग-द्वेष, हर्ष-शोक, हानि-लाभ, शत्रु-मित्र, देवी-देवता, भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन आदि की कल्पनाएं खड़ी होती हैं और जीव उन्हीं में उलझता है।

मनुष्य को मन-शक्ति के बाद दूसरी शब्द-शक्ति प्राप्त है। शब्दों में अपने मन के भावों को व्यक्त करना तथा दूसरे के व्यक्त भावों को उसके शब्दों द्वारा सुनना एवं समझना—यह मानव प्राणी की महान उपलब्धि है। जैसे इस प्रकरण की पहली साखी की व्याख्या में बताया गया है कि मनुष्य का मन विकासशील होने से उसमें अनेक संभावनाएं हैं; किन्तु मन का दुरुपयोग होने से वही मन महान दुखों एवं बन्धनों का कारण है; उसी प्रकार मानव में शब्द-शक्ति उसके विकास एवं मोक्ष-साधन के लिए वरदानस्वरूप है; परन्तु गलत शब्दों में फंस जाने से वही शब्दजाल मानव के लिए महान बन्धन का कारण है।

"शब्दै पैठा जीव" मानव जीव के बाहर-भीतर शब्द गूंज रहे हैं। यह शब्दों में बुरी तरह उलझा है। मोहन इसलिए दुखी है, क्योंकि उसको किसी ने अपमान के शब्द कह दिये हैं। गिरीश को इसलिए सदमा हो गया कि ज्योतिषी ने उसके ऊपर ग्रह का टेढ़ा होना बता दिया है। जगेश्वर को पुत्र पैदा हुआ है, फिर भी उसके घर में मातम है, क्योंकि पंडित ने बच्चे को सत्तइसा में पड़ा हुआ बता दिया है। माता ने जब से भूत-प्रेत तथा चुड़ैल की बात कही, तब से सुरेश अंधियारे से बहुत डरने लगा है। कहां तक गिनाया जाये, शब्दों के जाल ने मनुष्यों को तोड़ दिया है। शास्त्रों में शब्द लिखा है कि अमुक अछूत है, अमुक जाति में पैदा हुआ है। शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य कठपुतली है, तुच्छ है। वह कर ही क्या सकता है! सब कुछ हरि-अधीन है।

मनुष्य को साहस लाना होगा। उसे शब्दों को चुनना होगा। कौन-से शब्द गलत हैं और कौन-से शब्द कल्याणकारी हैं। यह मानव-शरीर फूल रखने की टोकरी है "फूल रहन की टोकरी"। अच्छे-अच्छे निर्णय, ज्ञान, विवेक, समता तथा शीलप्रद

शब्दों को चुनकर हृदय में रखना होगा। सच्चा पारखी बनकर परखना होगा कि कौन-से शब्द हमारे लिए बन्धनप्रद हैं और कौन-से शब्द कल्याणप्रद हैं। हमें निर्भय होकर हर जगह केवल सार लेना होगा। तभी हम अपने को बन्धनों से छुड़ा सकते हैं। तभी हम इसी जीवन में परम सुखी हो सकते हैं।

"घोरे खाया घीव" अर्थात छांछ में पड़े रहने से घी खराब हो जाता है। इसी प्रकार गलत शब्दों में पड़े रहने से मनुष्य पागल हो जाता है। नाली का पानी पीने वाला तथा अपने कपड़े फाड़ने वाला ही पागल नहीं होता, किन्तु सुसभ्य व्यक्ति भी पागल होता है। जिसका मन अपने वश में नहीं है, जिसे अपने स्वत्व का बोध नहीं है, जिसका मन राग-द्वेष में पीड़ित है, जो अपने आपके बोध से विहीन बना परोक्ष में अपना लक्ष्य खोज रहा है, वे ही तो पागल हैं। घी जब रोज-रोज छांछ में ही पड़ा रहेगा, तब खराब होगा ही। जब मनुष्य कल्पना के शब्दों में ही, वाणीजाल में ही पड़ा रहेगा, तो बन्धनों में जड़कता जायेगा ही। इसलिए शब्दजाल से अपने आप को बचाना है। निजतत्त्व-बोध एवं शांतिप्रद शब्दों का ही संग्रह करना है।

शब्द बिना सुरति आँधरी, कहो कहाँ को जाय।
द्वार न पावै शब्द का, फिर फिर भटका खाय॥ 4॥

शब्दार्थ—शब्द= सारशब्द, निर्णय वचन। सुरति= लक्ष्य, मन। आँधरा= विवेकहीन। द्वार= गुरुमुख।

भावार्थ—निर्णय-वचनों को न पाने से मनुष्य का मन विवेकहीन होकर अंधा हो गया है। कहो भला, वह कहां जायेगा? वह शब्दों का द्वार गुरुमुख निर्णय वचन न पाने से बारंबार कल्पित शब्दों के भंवरजाल में भटका खाता है॥ 4॥

व्याख्या—शास्त्र-वचन एवं गुरु-वचन के नाम पर संसार में शब्दों का ऐसा भयंकर वन है, जिसमें से निकल पाना बहुत बहादुरी का काम है। निर्णय शब्दरूपी कसौटी न होने से मनुष्य का मन अंधा बना वाणी के घोर वन में भटक रहा है। श्री रामरहस साहेब ने कहा है कि एक शब्द-समुदाय में चार प्रकार की वाणियां हैं—काल, संधि, झांई और सार।[1] सारशब्द एवं निर्णय-वचन लेकर ही अन्य वाणियों को परखकर उनसे उबरा जा सकता है।

संसार में एक सृष्टिक्रम है, कारण-कार्य-व्यवस्था है तथा विश्व के शाश्वत नियम हैं। जिन वाणियों में तथ्यपरक वर्णन है वे ही सारशब्द हैं और जिनमें अनर्गल बातें, चमत्कार, अंधविश्वास एवं राग-द्वेषपूर्ण बातें हैं, वे सब त्याज्य हैं। किसी महापुरुष के ये वचन कितने मर्मस्पर्शी हैं—"आकाश से महान दैत्य केवल इसलिए नहीं उतरते हैं कि आप्त अथवा योग्य पुरुष ऐसा कहता है। मैं तथा तुम्हारे-जैसे अन्य पुरुष केवल

---

1. एक शब्द समुदाय जो, जामें चार प्रकार।
काल शब्द सन्धि शब्द, झांई औ पुनि सार॥ पंचग्रन्थी, टकसार॥

ऐसे ही कथनों को स्वीकारते हैं, जिनका समर्थन तर्क द्वारा हो सके।"[1] भामतीकार भी कहते हैं—"हजारों वेदवचन घड़े को कपड़ा नहीं बना सकते।"[2]

जैसे अंग में चुभे हुए कांटे को दूसरे कांटे से निकाला जाता है, वैसे निर्णयवचनों से भ्रामक वचनों के जाल को काटकर उससे विवेकवान निकल आते हैं। सद्गुरु कहते हैं—"द्वार न पावै शब्द का, फिर-फिर भटका खाय।" यदि मनुष्य शब्दों का द्वार न पाया, तो वह बारम्बार भ्रामक शब्दों के घेरे में भटकता रहेगा। शब्दों का द्वार है निर्णयवचन। इसी के बिना मनुष्य का मन अंधा बना भटकता है। अतएव हमें शब्द समूह का मोह न होना चाहिए, किन्तु निर्णयवचनों पर ध्यान देना चाहिए। इसके लिए पूर्ण निष्पक्षता की आवश्यकता है।

शब्द शब्द बहु अन्तरे, सार शब्द मथि लीजै।
कहहिं कबीर जहाँ सार शब्द नहिं, धृग जीवन सो जीजै॥ 5॥

शब्दार्थ—अन्तरे= भेद। धृग= धिक्कार है। जीजै= जीना।

भावार्थ—शब्द-शब्द में बड़ा भेद होता है। अतएव विवेक की मथानी से मथकर सारशब्दों को निकाल लो। सद्गुरु कहते हैं कि जिस मनुष्य में सारशब्दों का विचार और आदर नहीं है, वह व्यर्थ ही जीवन जी रहा है॥ 5॥

व्याख्या—उक्त साखी में सद्गुरु तीन बातें बताते हैं। पहली बात है शब्द-शब्द में बड़ा अन्तर होता है। शास्त्र, गुरु एवं परम्परा किसी के भी शब्द हों, वे विचारणीय हैं। दूसरी बात यह कि उन शब्दों का विवेक द्वारा मंथनकर उनमें से केवल सारशब्द एवं निर्णयवचनों को ले लें, शेष छोड़ दें। तीसरी बात है कि जो बिना विचार किये आंख मूंदकर मानता है और सारशब्दों का आदर नहीं करता, उसके जीवन को धिक्कार है।

सद्गुरु ने "सुनिये सबकी निबेरिये अपनी।"[3] कहकर शास्त्र, गुरु तथा परम्परा सबका आदर करते हुए अपने विवेक को प्रमुखता दी है। वे कहते हैं कि सबका आदर करो; परन्तु अपने विवेक का निरादर करना तो सब कुछ पर पानी फेर देना है। आखिर शास्त्र, गुरु और परम्परा की बातें भी तो अपने विवेक से ही समझी जा सकती हैं। अतएव विवेक का स्थान सर्वोच्च है। सद्गुरु कहते हैं कि विवेक की मथानी से वाणियों को मथो और उनमें से सार को निकाल लो और असार छोड़ दो।

वेदों के पूज्य ऋषि भी हमें यह राय देते हैं—"जहां पर विवेकवान चलनी से सत्तू छान लेने के समान मन से वाणी को छान लेते हैं, वहां मित्र मित्रता को जानते हैं

---

1. न ह्याप्तवचनान्नभसो निपतन्ति महासुरा ।
   युक्तिमदवचनं ग्राह्यं मयाऽन्यैश्च भवद्विधै॥ अनिरुद्धवृत्ति 1/26॥
2. न ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुम् ईष्टे॥ भामती॥
3. बीजक, साखी 247।

और ऐसी वाणी में कल्याणप्रद लक्ष्मी निवास करती है।"[1] महाकवि कालिदास जी भी कहते हैं—"हर चीज इसलिए अच्छी नहीं मानी जा सकती कि वह पुरानी है। सिर्फ नयी होने से कोई चीज तुच्छ नहीं। विवेकवान ठीक परीक्षा के बाद इस या उस वस्तु को ग्रहण करते हैं। केवल मूर्ख मनुष्य दूसरों की बातों पर तुरन्त विश्वास कर पतित होते हैं।"[2] गोस्वामी तुलसीदास जी जैसे परम्परावादी महात्मा भी कह बैठते हैं—"जड़-चेतन और गुण-दोषों को मिलाकर कर्ता ने सृष्टि रची है। संत को चाहिए कि वे हंस के समान दोषरूपी पानी को छोड़कर केवल गुणरूपी दूध ग्रहण कर लें।"[3]

उक्त उदाहरणों को देने का तात्पर्य यह है कि जो वास्तविकता होती है, उसकी आवाज सब तरफ से किसी-न-किसी प्रकार उठती ही है। चीनी और रेत डाल दीजिये, तो चींटी भी परखकर चीनी ले लेगी और रेत छोड़ देगी। फिर विवेक-शक्तिसंपन्न मानव यदि नीर-क्षीर विवेक नहीं करता, तो उसकी जिन्दगी का क्या अर्थ है! सद्गुरु ने साखी ग्रंथ में भी कहा है—

साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय॥

शब्दै मारा गिर परा, शब्दै छोड़ा राज।
जिन्ह जिन्ह शब्द विवेकिया, तिनका सरिगौ काज॥ 6॥

शब्दार्थ—गिर परा= पतित हुआ। सरिगौ= बन गया।

भावार्थ—विषयासक्तिपूर्ण एवं भ्रामक शब्दों ने ऐसी चोट मारी कि उनसे घायल होकर कितने मनुष्य अपनी मानवता एवं कल्याणपद से पतित हो गये। परन्तु एक विवेक-वैराग्यपूर्ण शब्द सुनकर, राज्य तक की आसक्ति त्यागकर सुज्ञजन विरक्त हो जाते हैं। अतएव जिन-जिन लोगों ने सत-असत शब्दों का विवेक कर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग किया, उनका कल्याण बन गया॥ 6॥

व्याख्या—"शब्दै मारा गिरा परा।" ऐसे-ऐसे शब्द होते हैं जिनकी मार से आदमी नीचे गिर जाता है। अच्छे-अच्छे साधक जब सजगता छोड़कर विषय-वासनाओं से भरे शब्दों तथा शृंगारिक गीतों को सुनते, शृंगारिक पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ते हैं, तब धीरे-धीरे अपनी साधना से पतित हो जाते हैं। नारी जाति से अपरिचित ऋषि शृंग एकांत जंगल में युवती वेश्या के शृंगारिक शब्द सुनकर

---

1. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥ ऋग्वेद 10/71/2॥
2. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढ परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥ मालविकाग्निमित्र॥
3. जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥ मानस, बालकांड, दोहा 6॥

विमोहित हो गये। योगिराज मछंदरनाथ सिंहल की रानियों के रसीले शब्दों को सुनकर अपना योग-वैराग्य छोड़ बैठे। पतित स्त्रियों की विषयरस-वाणी सुन-सुनकर कितने साधक अपने पद से गिर जाते हैं, फिर सामान्य की बात ही क्या!

विषय-वासनावर्द्धक गीत एवं शब्द सुनने पर यदि साधक सावधान न रहे तो उधर के ही स्मरण होने लगेंगे और मन में विषय-वासना आ जायेगी। अतएव यह परम सत्य है कि ऐसे शब्द होते हैं जिनकी मार से मनुष्य अपने कल्याण पथ को छोड़ बैठता है। भ्रामक शब्दों को सुनकर मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है।

"शब्दै छोड़ा राज।" यह भी परम सत्य है कि ऐसे-ऐसे भी शब्द होते हैं कि जिन्हें सुनकर राजा लोग राजपाट छोड़कर विरक्त हो जाते हैं। प्रत्यक्ष घटना देखकर और रथ-चालक से यह सुनकर कि रोग, बुढ़ापा एवं मृत्यु सबके पीछे हैं, गौतम के मन में वैराग्य का मंथन होने लगा और वे राज छोड़कर विरक्त हो गये। ऋषभदेव, महावीर, भर्तृहरि, गोपीचन्द कितने राजाओं ने राजपाट त्यागकर विरक्ति ले ली। लोककहावत के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी पत्नी द्वारा यह बात सुनकर "तुम्हें जितना प्रेम मेरे चाम से है, उतना राम से होता तो तुम्हारा कल्याण हो जाता" विरक्ति ले ली।

एक शब्द राग कराता है, दूसरा शब्द वैराग्य कराता है। एक शब्द भ्रम उत्पन्न करता है, दूसरा शब्द भ्रम का निवारण करता है। एक शब्द हंसने वाले को रुलाता है, एक शब्द रोने वाले को हंसाता है। एक शब्द शोक पैदा कर देता है, एक शब्द हर्ष ला देता है। एक शब्द शत्रुता का कारण बनता है, एक शब्द मित्रता का। एक शब्द तीर बनकर चुभ जाता है और हृदय को सालता है, एक शब्द मीठी औषध बन जाता है। एक शब्द बने काम को बिगाड़ देता है, एक शब्द बिगड़े काम को बना देता है। एक शब्द विघटन का कारण होता है, एक शब्द संगठन का। एक शब्द बंधन देता है, एक शब्द मोक्ष। अतएव बड़ी सावधानी से शब्दों का ग्रहण-त्याग करो।

सद्गुरु कहते हैं—"जिन्ह जिन्ह शब्द विवेकिया, तिनका सरिगौ काज॥" अर्थात जिन लोगों ने शब्दों का विवेक कर गलत का त्याग एवं ठीक का ग्रहण किया, उनका कल्याण हो गया।

मनुष्य के बिगड़ने-बनने में शब्दों का महत्त्व है। मन को विषयों की ओर खींचने वाले अश्लील उपन्यास, पत्र-पत्रिका, साहित्य, नाटक, कहानी, तथाकथित धर्मग्रन्थ—इन सबसे बचना चाहिए। शृंगारिक उपन्यास हो या रासलीला का ग्रंथ—दोनों ही कल्याण-विरोधी हैं। अनेक भाषाओं के विद्वान एवं परम विरक्त संत श्री भगवदाचार्य जी महाराज ने एक जगह लिखा है कि जिन्हें साधना से रहना हो और ब्रह्मचर्य-पालन करना हो, वे संस्कृत-साहित्य एवं उर्दू-साहित्य का पढ़ना एकदम त्याग दें, क्योंकि ये दोनों शृंगाररस-प्रधान हैं।

शब्द हमारा आदि का, पल पल करहू याद।
अन्त फलेगी माँहली, ऊपर की सब बाद॥ 7॥

शब्दार्थ—आदि का= मूल स्वरूप का। माँहली= अन्तःपुर में जाने वाला सेवक, महल में रहने वाला, तात्पर्य में स्वरूप में स्थित चेतन।

भावार्थ—हमारे निर्णय-शब्द मूल चेतनस्वरूप के परिचायक हैं, अतः ऐसे शब्दों का निरंतर मनन-चिंतन करो। इसके अंतिम फल में स्वरूपस्थिति रूपी महल के निवासी बन जाओगे, ऊपर की माया तो सब व्यर्थ है॥ 7॥

व्याख्या—कबीर देव के वचन बारंबार जीव का बोध देते हैं। कबीर देव इतने सजग पुरुष हैं कि वे बारंबार हमें अपनी वाणियों से जगाकर स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति की ओर खींचते हैं। वे कहते हैं कि मैं तुम्हें स्वरूपज्ञान की याद दिलाता हूं। तुम अपने चेतनस्वरूप की पल-पल याद करो। स्वरूपज्ञानपरक वाणियों का बारंबार स्मरण-मनन करने से स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति दृढ़ हो जाते हैं। इसका फल होता है कि जीव 'माहली' हो जाता है। वह अपने 'महल' में, अपने भवन में रहने लगता है।

जीव का महल क्या है? क्या जो यह ईंट, सीमेंट, लोहा, लकड़ी से महल खड़ा कर लिया गया है, यह जीव का महल है? बिलकुल नहीं। यह तो इस शरीर के रहने के लिए दो दिन का मुसाफिरखाना है। जीव का महल तो उसकी अपनी स्वरूपस्थिति है। स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति एक ऐसा पक्का-पोक्ता भवन है, जो न कभी गिरने वाला है और न छूटने वाला है।

वर्षा के पानी से भीगता, जेठ की धूप से तपता तथा पौष-माघ की ठंडी से कांपता आदमी जब गिरता-भागता अपने मजबूत और सुरक्षित मकान में आ जाता है, तब वह अपने आप को कितना सुरक्षित अनुभव करता है, कितना आनंदित होता है, यह सबका अपना अनुभव है। यह तो क्षणिक है। पुनः घर से निकलकर वर्षा, धूप तथा ठंडी में काम करने जाना पड़ता है। परन्तु जो वैराग्यप्रवर साधक संसार के तापों से भागकर अपने स्वरूपस्थिति-महल में पहुंच जाते हैं, वे सदा के लिए परमविश्राम, परम शांति एवं परमानन्द धाम में पहुंच जाते हैं। वे समझते हैं "ऊपर की सब बाद" सारी माया अन्ततः छूटने वाली है। इसमें मेरी क्या हानि, क्या लाभ! मेरा क्या छुटेगा, क्या मिटेगा! मैं तो अपनी स्थिति में स्थायी भवन पा गया हूं। अब मुझे बाहरी चीजों में कोई हानि-लाभ नहीं है। अब कुछ भी छूट जाने का भय नहीं रहा। सद्गुरु श्री रामरहस साहेब ने कहा है—"नित पारख प्रकाश जो, सोई निज घर जान।" तथा "बसै आनंद अटारी।" यह स्वरूपस्थिति ही निज घर तथा आनन्द अटारी है।

बाहर के मकान, महल शरीर के लिए आवश्यक होते हुए भी मन को तापों से मुक्त नहीं कर सकते। सब सुविधाओं में पूर्ण, संगमरमर पत्थरों से बने चमचमाते हुए विशाल भवन में पहुंचकर मन थोड़े समय के लिए बड़ा सुख का अनुभव कर सकता

है; परन्तु यदि उसी में बहुत काल या कुछ समय रहने का अवसर पड़ जाये, तो थोड़े दिनों में मन उदास हो जायेगा। जब किसी कारण से मन बेचैन होता है, तब मित्रों, स्वजनों एवं सब सुविधाओं से भरा भव्य-भवन भी श्मशान या जेलखाना के समान प्रतीत होता है। निरन्तर सुख से पूर्ण, शांतिमय, अक्षय तथा कभी न छूटने वाला महल स्वरूपस्थिति ही है। अतएव अपने आप में रमो, आत्माराम होओ।

स्वर्ग धरती पर है

जिन्ह जिन्ह सम्मल ना कियो, अस पुर पाटन पाय।
झालि परे दिन आथये, सम्मल कियो न जाय॥ 8॥

शब्दार्थ—सम्मल= शंबल, यात्रा के लिए भोजन पदार्थ, मार्ग का खर्च, धर्म तथा अध्यात्म की पूंजी। पुर= ग्राम, मानव शरीर। पाटन= बाजार, सत्संग। झालि= अन्धकार, बुढ़ापा की दुर्बलता। दिन आथये= जीवन का अन्त।

भावार्थ—ऐसा उत्तम नर-शरीर और सत्संग पाकर जिसने आध्यात्मिक पूंजी नहीं बना ली, वह बूढ़ा होने पर तथा जीवन के अन्त होने पर कुछ नहीं कर सकेगा॥ 8॥

व्याख्या—किसी को दूर जाना है तो उसे रास्ता के लिए खर्चा रखना पड़ता है, रुपये, खाने-पहनने की सामग्री आदि। इसी को 'शंबल' कहते हैं। शंबल का अर्थ आधार, सहारा आदि भी है। ये सभी अर्थ एक ही भाव को व्यक्त करते हैं। गांव तथा बाजार में ही शंबल जुटाया जा सकता है। यहां सबका आध्यात्मिक अभिप्राय है। यह मानव-शरीर गांव है और सत्संग बाजार है। इसी में आध्यात्मिक शंबल अर्जित किया जा सकता है।

अच्छे विचार, अच्छी वाणी तथा अच्छे आचरण का प्रयोग करने से मन में अच्छे संस्कार संग्रहीत होते हैं। ये अच्छे संस्कार ही जीव के लिए शंबल हैं, पूंजी हैं और जन्म-जन्मान्तर के लिए सुखद हैं। इस शंबल एवं पूंजी का उपार्जन आज ही संभव है।

आज हमारे पास आंखें न होतीं तो हम देख न सकते। पैर न होते, तो चल न सकते। हाथ न होते, तो सेवा का काम न कर सकते। बुद्धि न होती, तो समझ न सकते। पागल होते, तो नाली का पानी पीते। सत्संग और सद्ग्रंथ न मिले होते, तो अच्छे विचारों का संग्रह न कर पाते और हमारे कल्याण का आधार न बन पाता। सौभाग्य है कि हमें सब सुविधाएं प्राप्त हैं। अभी सब इंद्रियां ठीक हैं। स्वास्थ्य ठीक है। अवस्था साधना करने योग्य है। ऐसे सुनहले अवसर को यदि हम मलिन विषय-सेवन में लगाते हैं और कल्याण-साधना नहीं करते हैं, तो यह हमारा घोर प्रमाद है।

"झालि परे दिन आथये" अर्थात जब आंखों से दिखेगा कम, कान से सुनाई नहीं

देगा, पैर जमीन पर रखने से डगमगायेंगे, हाथ में बल नहीं रह जायेगा, बुद्धि में दृढ़ता नहीं रहेगी, मन से बातें भूल जाया करेंगी एवं सारा शरीर शिथिल हो जायेगा, और मौत निकट आ जायेगी, तब हम क्या कर सकते हैं! तब "सम्मल कियो न जाय।" तब हमसे कुछ भी होना सम्भव नहीं।

अतएव आज ही धर्म की कमाई करो। धन केवल अपने तथा अपने परिवार के भोगों में ही मत स्वाहा करो। धन से यथासंभव दान करो। दुखियों, अभावग्रस्तों की सहायता में लगाओ। संतों की सेवा तथा सत्साहित्य के प्रचार में लगाओ। सार्वजनिक सेवा-संस्थानों को दान करो। शरीर से दूसरों की सेवा करो। वाणी से प्रिय एवं हितकर बोलकर दूसरे की सेवा करो। मन से मानव मात्र के प्रति प्रिय तथा प्राणि मात्र पर दया का भाव रखो। आज सुनहला अवसर तुम्हें मिला है। इसे व्यर्थ न जाने दो। धन छुटेगा। शरीर छुटेगा। परिवार छुटेगा। पद और प्रतिष्ठा छुटेंगे। क्या रह जायेगा तुम्हारे पास! पैसा-पैसा बटोरकर क्या करोगे! क्या पुत्र के लिए! 'पूत सपूत तो का धन संचय' और 'पूत कपूत तो का धन संचय!' यदि पुत्र लायक होगा तो कमाकर खायेगा। उसके लिए संग्रह करने की आवश्यकता नहीं, और पुत्र नालायक होगा, तो उसके लिए संग्रह करके क्या करोगे! वह तो शराब-कबाब, जुआ-व्यभिचार आदि में संग्रहीत धन नष्ट कर देगा। अतएव अपने तन-धन को पर-सेवा में लगाकर पवित्र संस्कारों की पूंजी कमाओ। यही शांति का परम शंबल है। यही बड़ी पूंजी है। यह कल नहीं बन पायेगा। इसे आज ही बनाओ।

अन्ततः जीव का परम शंबल तो स्वरूपस्थिति है। सारी वासनाओं-इच्छाओं को छोड़कर जो अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो गया, वह सदैव के लिए सम्राट हो गया। संसारी सम्राट का तो एक उदाहरण मात्र है। सम्राट बेचारा निश्चिंतता का सुख जानता ही नहीं है। स्वरूपस्थ एवं आत्माराम पुरुष तो सदैव चिंताहीन परम सुख का उपभोक्ता है। इसके लिए आज ही डट जाओ। किसी ने कितना सुंदर कहा है—

मानुष तन सद्गुरु मिलन, मोक्षहु इच्छा होय।
दुर्लभ तीनों परम हैं, पाय सुयोग न खोय॥

यहाँ ई सम्मल करिले, आगे विषई बाट।
स्वर्ग बिसाहन सब चले, जहाँ बनियाँ न हाट॥ 9॥

शब्दार्थ—यहाँ ई= नर जन्म में। आगे= मानवेतर खानियों में। बिसाहन= खरीदने।

भावार्थ—वर्तमान स्वस्थ नरजन्म में अपनी कल्याण-साधना कर लो। इसके अतिरिक्त पशु आदि खानियों में तो केवल विषयों का मार्ग है। सब जीव स्वर्ग में कल्याण-सौदा खरीदने चले, जहां न वणिक हैं, न बाजार। अर्थात जहां न सद्गुरु हैं, न सत्संग॥ 9॥

व्याख्या—मानव-जीवन कर्म-भूमिका है। यहीं कर्मों का निर्माण तथा ज्ञान द्वारा

कर्मों का अभाव भी होता है। मानव जीवन में ही विवेकबुद्धि है। यहीं धर्म का शंबल एवं अच्छे संस्कारों की पूंजी बनायी जा सकती है। यहीं सत्संग में अपने चेतनस्वरूप को ठीक से जानकर उसमें स्थिति की जा सकती है। मनुष्य-शरीर के बाद अन्य पशु आदि योनियों में तो केवल विषय-सेवन का ही रास्ता है। पशु-पक्षी आदि तो केवल पेट भरने की क्रिया करते हैं और प्रजनन करते हैं। पेट और भोग के अलावा वहां कुछ संभव ही नहीं है। अतएव हमारे मानव जीवन की सफलता पेट भरने और बच्चा पैदा करने में नहीं है, किन्तु सत्संग, विवेक, परसेवा, स्वरूपविचार आदि में रमने में है।

पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर कुछ लोगों की यह धारणा है कि गंगादि नदियों में नहाकर, तीर्थों में निवास कर एवं मूर्तियों के दर्शन कर तथा अमुक मंत्र एवं नाम जपकर हम स्वर्ग-लाभ करेंगे। स्वर्ग में भगवान के पास पहुंचकर कृतार्थ हो जायेंगे। परन्तु यह सब बच्चों का मनोरंजन मात्र है। सद्गुरु कहते हैं "स्वर्ग बिसाहन सब चले, जहाँ बनियाँ न हाट।" वहां न तो बनिया है और न बाजार। अर्थात न कहीं स्वर्ग है और न वहां कोई भगवान।

स्वर्ग वहां नहीं है जहां पौराणिक लोग कल्पना करते हैं। वह तो यहीं है। इसी धरती पर विवेक-वैराग्यसंपन्न सद्गुरु भगवान हैं। संत एवं सज्जन लोग देवता हैं और सत्संग स्वर्ग है। हमें स्वर्ग धरती पर उतारना होगा। उतारना क्या धरती पर स्वर्ग है ही।

सद्गुरु कबीर का सारा ज्ञान ताजा, व्यावहारिक और तथ्य की धरती पर अवलंबित है। वे कहते हैं "यहाँ ई सम्मल करिले" इसी धरती पर स्वर्ग को बसा लो। आकाश में कोई स्वर्ग नहीं है।

तुम यह मानो कि तुम्हारा घर या आश्रम स्वर्ग है। उसमें रहने वाले सारे सदस्य देवता हैं। सुबह नींद खुलते ही जिन लोगों पर दृष्टि पड़े उन्हें देवता के रूप में देखो और उनका श्रद्धा, आदर एवं प्यार से सत्कार करो। सबसे मीठा बोलो, मीठा व्यवहार करो। घर, दुकान, दफ्तर, कारखाना, खेत तथा सड़क पर परिवार, ग्राहक, नौकर, स्वामी एवं जनता के रूप में जो मिलें, उन्हें देवी-देवता समझो। उनके साथ सुन्दर व्यवहार करो, तो देखोगे यह संसार स्वर्ग बन जायेगा। कम-से-कम तुम ऐसा व्यवहार करना सीखो, तो तुम्हारे लिए सर्वत्र स्वर्ग ही मिलेगा।

जीव की गरिमा और उसका स्वागत

जो जानहु जिव आपना, करहु जीव को सार।
जियरा ऐसा पाहुना, मिले न दूजी बार॥ 10॥

शब्दार्थ—सार= मुख्य, सर्वोत्तम, वास्तविक, पूर्णतः प्रमाणित, मूल, सत्य,

स्वागत।

भावार्थ—यदि जीव को अपना स्वरूप समझते हो, तो उसे पूर्णतः प्रमाणित सर्वोच्च सत्ता समझो और उसका स्वागत करो। जीव मानव शरीर में ऐसा पहुना है, जो लौटकर पुनः इसमें नहीं आयेगा॥ 10॥

व्याख्या—संसार के अधिकतम संप्रदायवादी कहते हैं कि जीव तो तुच्छ है, अंश, प्रतिबिंब, आभास, प्रतिभास है, यह अल्पज्ञ है; इच्छा, प्रयत्न, द्वेषादि से स्वरूपतः संबद्ध है। वे कहते हैं कि श्रेष्ठ तो ईश्वर एवं ब्रह्म है।

विचारकर देखा जाये कि यदि ईश्वर तथा ब्रह्म जीव से पृथक है, तो वह एक अनुमान है, जिसकी कल्पक जीव ने ही की है। जीव न होता तो ईश्वर एवं ब्रह्म की कल्पना कौन करता! वस्तुतः जीव अनुमात है और ईश्वर-ब्रह्म अनुमान (अटकल), जीव कल्पना है और ईश्वर-ब्रह्म कल्पना। जीव अपरोक्ष मैं के रूप में विद्यमान है, ईश्वर-ब्रह्म जीव द्वारा की गयी चर्चा मात्र है। जीव को तुच्छ कहने वाला जीव ही है जो अपनी भूल से ऐसा कह रहा है। जिस दिन जिस जीव को अपने स्वरूप की पहचान होगी, उस दिन वह जीव को तुच्छ कहने का अपराध न करेगा। जीव तुच्छ है तो शिवत्व की घटना कहां घटेगी? जीव को हटा देने के बाद ईश्वर-ब्रह्म का नामलेवा भी कोई न रहेगा। सद्गुरु श्री पूरण साहेब ने कहा है—"कबीर देव का यह प्रामाणिक निर्णय है कि जीव जो मूल है उसे न समझा गया, तो सब थोथा है।"[1] जीव को तुच्छ कहना तो आत्मघात है।

सद्गुरु कहते हैं कि जो लोग जीव को तुच्छ कहते हैं उनकी बातें जाने दो। परन्तु यदि तुम जीव को अपना स्वरूप समझते हो, तो उसकी महत्ता का बोध प्राप्त करो। जीव चेतन है, आत्मा (स्वयं स्वरूप) है, सर्वोच्च सत्ता है, व्यक्ति के अपने आप की यथार्थता है, ज्ञानस्वरूप है, अमृतस्वरूप है[2] तथा रामस्वरूप है।[3] इस सर्वोच्च सिद्धान्त की गरिमा को समझो और इस तथ्य का स्वागत करो। अर्थात जीव का स्वागत करो।

जीव का स्वागत करना, अपने आप का स्वागत करना है। अपने आप का स्वागत करना है अपने आप को सारे बन्धनों से छुड़ा लेना। जीव जब सारे बन्धनों से छूट जाता है, तब यही शिव है।

"जियरा ऐसा पाहुना, मिले न दूजी बार" यह मानव-शरीर पहुनाई की जगह है और जीव पहुना है। मानव-शरीर कल्याण करने का साधन है क्योंकि यह विवेक-

---

1. कहहिं कबीर पुकारि के, ये निर्णय परमान।
   जीव जमा जाने बिना, सबै खर्च में जान॥ निर्णयसार॥
2. बीजक, रमैनी साखी 10।
3. रमैनी 41।

प्रधान है। अतएव जीवन में विवेक जगाया जाये, मन के बन्धनों को तोड़ा जाये और जीव इस जीवन में परम विश्राम पा जाये; यही जीव का स्वागत करना है। यदि यह काम आज कर लिया गया, तो यही जीवन की सफलता है, जीव का इस शरीर में आने की सार्थकता है, अन्यथा सब थोथा है।

जीव जब शरीर छोड़ देगा, तो वह पुनः इसमें नहीं आयेगा और जीव इस शरीर से कब चला जाये, कोई नहीं जानता। इसलिए आत्म-कल्याण का काम शीघ्र करना चाहिए।

जो जानहु जग जीवना, जो जानहु सो जीव।
पानि पचावहु आपना, तो पानी माँगि न पीव॥ 11॥

शब्दार्थ—पानी= पानी, वाणी, वासना। पचावहु= नष्ट कर दो।

भावार्थ—यदि जगत में जीने की कला जानते हो और उस जीव को भी जानते हो जो तुम्हारा स्वरूप है, तो आज तक की ग्रहण की हुई सारी वासनाओं को नष्ट कर दो तथा आगे किसी प्रकार वासना संसार से न ग्रहण करो॥ 11॥

व्याख्या—उक्त साखी में चार बातें बतायी गयी हैं—स्वरूपज्ञान, जीने की कला, वासना निवृत्त करना तथा पुनः वासना न ग्रहण करना। हम इन पर थोड़ा-थोड़ा विचार करें।

पहली बात लें "जो जानहु सो जीव"। जीव के दो अर्थ होते हैं—देहधारी तथा शुद्ध चेतन। कहीं बिजली जल रही है और वहां बहुत-से पतिंगे आ गये, तो लोग कहते हैं 'बहुत जीव आ गये।' यहां देहधारी के लिए जीव कहा गया। दूसरा जीव का अर्थ शुद्ध चेतन है। वह देह में हो या देह से रहित अवस्था में हो, चेतन को जीव कहा जाता है। हमें यह समझना चाहिए कि हम देह नहीं हैं, किन्तु शुद्ध चेतन हैं, जीव हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। अतएव देह का विनशना, मेरा अपना विनशना नहीं है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु कहें या आक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि कहें, ये सब जड़-तत्त्व हैं। इनमें चेतना का कोई गुण नहीं है। अतएव जीव, जिसका मौलिक स्वरूप ही चेतन है, वह जड़ से नहीं बना है, किन्तु स्वतन्त्र है। जो स्वतन्त्र होता है, वह नित्य, अनादि-अनन्त एवं अविनाशी होता है। अतः हमें समझना चाहिए कि हमारी न कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी नाश होगा। विज्ञान के दृष्टिकोण से भी हर मौलिक पदार्थ नित्य है। चेतन जीव मौलिक है, अतः वह नित्य है, अविनाशी है। जब हमें दृढ़ बोध हो जाता है कि हम अविनाशी हैं, तब हमें संसार में किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता। इस बोधभाव को जितना साधा जाये, उतना जीवन सुखद होगा। यह बोध आध्यात्मिक साधना का मूलाधार है।

दूसरी बात है "जो जानहु जग जीवना" अर्थात यदि जगत में जीना जानते हो तो। जगत में पैदा तो बहुत मनुष्य होते हैं, परन्तु जो ठीक से जीना जानता हो, वह बिरला है। मान लो, कोई व्यक्ति एक हजार रुपये लेकर व्यापार करना शुरू करता है, और

दो महीने में उसके पास आठ सौ रुपये की पूंजी रह गयी, चार महीने में छह सौ रुपये की। इसी प्रकार रोज उसकी पूंजी घटती गयी। वह मुनाफा तो कुछ भी नहीं कमा पाया, किन्तु उसका मूलधन ही नित्य घटता गया और आखिर में पूरा जमा धन समाप्त हो गया, तो स्पष्ट है कि उसका व्यापार घाटे में चलकर अंत में असफल हो गया।

इसी प्रकार हमारा जीवन एक व्यापार है। मनुष्य जन्म लेता है, शिशु के रूप में रहता है। उसका चित्त एकदम शुद्ध होता है। बालपन भी शुद्ध चित्त तथा चिन्तारहित बीतता है। जवानी आने पर मलिनता शुरू होती है, साथ-साथ चिन्ता भी। फिर भी जवानी में काफी कुछ उदारता, सरलता तथा मानसिक प्रसन्नता रहती है। परिपक्व अवस्था में पहुंचकर आदमी काफी चिंताक्रांत हो जाता है। बुढ़ापा में तो केवल चिन्ता एवं मन की खिन्नता ही शेष रह जाती है, और असंतोष में ही वह शरीर छोड़ देता है। यह जीवन व्यापार का घाटे में चलते-चलते अंततः निष्फल हो जाना है। ऐसा क्यों हुआ, क्योंकि हम जीवन जीने की कला नहीं समझ सके। यदि कुछ समझे भी हों, तो उसका जीवन में प्रयोग नहीं कर सके।

जीवन जीने की कला है जीवन में कहीं न उलझना। राग में, द्वेष में, ममता में, वैर में, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि में, झगड़ा-झंझट में—कहीं भी अपने आप को न फंसाना ही जीवन जीने की अच्छी समझदारी का फल है। सद्गुरु विशाल देव ने कहा है "जगत में रहि कै चलो बचाय।" अपनी भूल और प्रलोभन से उलझनें आती हैं। दूसरे लोग भी कटुवचन, अपमान, वस्तुहानि, निन्दा आदि कर उलझाने के कारण बनते हैं। विवेकवान को अंदर-बाहर सावधान रहना पड़ेगा। यह बात नहीं कि जीवन में कहीं उलझनें आयेंगी ही नहीं। ऐसा तो किसी का भी जीवन नहीं होता है जिसमें कभी-न-कभी उलझन आये ही नहीं। सभी से कुछ-न-कुछ भूलें हो जाती हैं और अपने गलत व्यवहार से भी उलझनें आ जाती हैं। कोई जीवन की शुरुआत में ही परिपक्व नहीं हो जाता। बहुत ठोकरें खाने के बाद जीवन में परिपक्वता आती है। और परिपक्वता भी उसी को आती है जो समझदारी से काम करता है। अन्यथा जीवन बीत जाता है और कितने लोग बालक ही बने रहते हैं। सबके जीवन में बाहर से भी कुछ-न-कुछ उलझनें आ ही जाती हैं। खल लोगों का काम ही है दूसरे के मार्ग में रोड़े अटकाना। परन्तु विवेकवान शोध-शोधकर अपनी भूलों को छोड़ता है और दूसरों द्वारा आये हुए रोड़ों को समता-समझदारी से हटाते हुए अपना मार्ग प्रशस्त करता है।

इस संसार में चाहे अपने माने गये लोग हों और चाहे दूसरे, विचारों की भिन्नता होने पर उनसे लड़-लड़कर समाधान नहीं किया जा सकता। विवेकवान का काम है दूसरे द्वारा आये हुए आक्षेपों को सह लेना तथा सदैव कुसंग का त्याग करना। जो अपने माने गये हों, उनमें जिनको सुधार मिले, समता से विचार देकर उन्हें सुधारना तथा जो शक्ति के बाहर दिखें उनसे दूर हो जाना, यही समझदारी है। सार यह है कि

किसी मनुष्य की न तो ममता में बंधना और न वैर में। जो पांचों विषयों की आसक्ति को जीत लेता है और भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आसक्ति भी त्याग देता है, केवल अनासक्त होकर जीवन-निर्वाह लेता है, वह कहीं नहीं बंधता।

कुल मिलाकर कहा जाये तो अनासक्ति ही जीवन जीने की कला है। जो व्यक्ति सर्वत्र अनासक्त होता है, वह जानबूझकर कहीं भी गलत काम नहीं करता। जो गलत नहीं करता, वह उलझता नहीं। बाहर से उलझाकर कोई उसे अशांत नहीं कर सकता। जिसका हृदय शुद्ध एवं दृढ़ है, जो पूर्ण परिपक्व हो चुका है, उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अतएव अनासक्ति ही जीवन जीने की कला है। उठी हुई पहली बात "जो जानहु सो जीव" अर्थात अपने अविनाशी स्वरूप का ज्ञान अनासक्त होने में महान सहयोगी है।

तीसरी बात है "पानि पचावहु आपना" यह बहुत गम्भीर भाव का वाक्यांश है। यहां पानी का अर्थ वाणी और वासना है। वाणी अर्थात शब्द। मनुष्य के मन में निरन्तर शब्द गूंजते रहते हैं। अनेक प्रकार के भावना-उत्पादक शब्द मनुष्य के मन में भरे रहते हैं, और वह उन्हीं में निरन्तर ऊबता-डूबता रहता है। शब्द और वासना का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानवेतर प्राणियों में शब्दशक्ति बहुत कम होने से उनमें वासनाएं भी कम होती हैं। मनुष्य वासनाओं का पुंज बना रहता है; क्योंकि वह शब्दों को बहुत ग्रहण करता है। शब्दों के पीछे कुछ अर्थ होते हैं और अर्थों के पीछे उलझन।

शांति-इच्छुक को चाहिए कि उलझाने वाले शब्दों को तो वह एकदम छोड़ दे; किन्तु समाधि में पहुंचकर सारे शब्दों को छोड़ दे। शब्द छोड़ने पर स्मरण छूटेंगे तथा स्मरण छोड़ने पर शब्द छूटेंगे।[1]

अंततः 'पानी' का परिपाक अर्थ वासना ही है। वासना का अर्थ है आसक्तिपूर्ण संस्कार। अपने चेतनस्वरूप से जो कुछ पृथक है, उसके राग-द्वेषात्मक संस्कार ही वासना है। देह से जगत पर्यंत एवं पिंड से ब्रह्मांड तक जो कुछ जड़ दृश्य है, इसकी वासना ही जीव को परतन्त्र बनाती है। सद्गुरु कहते हैं कि आज तक जितनी वासनाएं ग्रहण कर रखे हो, उन्हें विवेक से नष्ट कर दो; और आगे संसार से मांगकर कोई नयी वासना मत ग्रहण करो। पुनः वासनाएं ग्रहण न करो यही चौथी बात है। जीवन जीने की यह सर्वोत्तम कला है कि आज तक संसार की जितनी अहंता, ममता एवं वासनाएं हमने ग्रहण कर रखी हैं, उन्हें त्याग दें और नयी अहंता-ममताएं एवं वासनाएं न ग्रहण करें। अहंकाररहित, ममतारहित एवं वासनारहित जीवन ही मुक्त जीवन है। यही सच्चा जीवन है। यही जीवन सच्चे अर्थों में सुखी रहता है।

उपदेष्टाओं को चेतावनी

1. शब्द पर पीछे 2 से 7वीं साखी की व्याख्या देखें।

पानि पियावत क्या फिरो, घर घर सायर बारि।
तृषावन्त जो होयगा, पीवेगा झख मारि॥ 12॥

शब्दार्थ—पानि=पानी, उपदेश। घर-घर=घट-घट, सबके मन में। सायर=समुद्र। झख=कुढ़न, अहंकार।

भावार्थ—उपदेश क्या देते फिरते हो! सबके मन में ज्ञान का सागर भरा है, अर्थात सबको अहंकार है कि हम ज्ञानी हैं। जो व्यक्ति सत्योपदेश का प्यासा होगा, वह अहंभाव छोड़कर स्वयं ग्रहण करेगा॥ 12॥

व्याख्या—कुछ उपदेशकों का मुंह हर समय चरचराता रहता है। वे इस ताक में रहते हैं कि कोई मिले तो मैं उसे उपदेश देना शुरू करूं। सुनने वाले चाहे थक जायें, परन्तु ऐसे उपदेशक नहीं थकते।

एक चर्च में एक पादरी प्रवचन देने आये। उनका प्रवचन शुरू हुआ। रात के दस बज गये, परन्तु उनकी वाणी रुक ही नहीं रही थी। लोग उठ-उठकर जाने लगे। काफी लोग चले गये, रात के ग्यारह बज गये। प्रवचन-कक्ष से सभी लोग चले गये थे, केवल एक आदमी था जो पादरी की तरफ निगाह लगाये बैठा था। पादरी ने कहा—"आपकी श्रद्धा धन्य है। आपको मेरे उपदेशों में रस आ रहा है। भले ही सब चले गये, जब तक आप सुनना चाहेंगे, मैं बोलता रहूंगा चाहे सुबह हो जाये। सत्पात्र एक काफी होता है।"

उस आदमी ने कहा—"महाशय! मैं इस चर्च का चौकीदार हूं। जब तक आप इस कक्ष से बाहर नहीं होंगे, तब तक मैं अपने घर जा नहीं सकता; क्योंकि इसमें मुझे ताला लगाना पड़ेगा।"

उपदेश देने और प्रवचन करने की अति मत करो। संसार भर को चेताकर उन्हें शिष्य तथा अनुगामी बनाने की इच्छा प्रबल मोह है। इससे संसार का तो कोई कल्याण नहीं होता, अपना अकल्याण होता है। संसारियों के मन में अनेक कल्पनाएं और कामनाएं भरी हैं। जब तक उनका भी लक्ष्य आपकी ओर नहीं होगा, तब तक आपके उपदेशों की झड़ी लगा देने मात्र से उनको बोध नहीं होगा।

पहले साधक बनो। विवेक-वैराग्यसंपन्न किसी सद्गुरु की शरण में जाओ। उनके चरणों में अपने आप को समर्पित करो। विनम्रतापूर्वक उनकी सेवा करो। स्वरूपज्ञान तथा पवित्र रहनी का बोध प्राप्त करो। शम, दम, एकांतवास, वैराग्य, द्रष्टा-अभ्यास और साधनों द्वारा स्वरूपस्थिति प्राप्त करो। संसार से पूर्ण अनासक्त होकर स्वरूपस्थिति में पूर्ण निमग्न हो जाने के बाद ही दूसरों को चेताने की बात सोचो। स्वयं तृप्त होकर ही दूसरों को उस तरफ प्रेरणा दे सकते हो। केवल वाणी से उपदेश पर्याप्त नहीं है। यही महापुरुषों का अनुक्रम है।

कितने उपदेष्टा नामधारी तो विवेक-वैराग्य तथा सदाचार की बातें ही दूर, वे साधारण आचरणों तक का पालन नहीं करते। वे बीड़ी-सिगरेट तथा गांजा-भांग

उड़ायेंगे, मुख में पान-तम्बाकू भरकर तब उपदेश देने खड़े होंगे। उनका मुंह देखो तो भड़भूज का भाड़ बना रहता है। जैसे भड़भूज भाड़ में लकड़ी, कंडे, पैरा, पत्ते आदि सब झोंकता रहता है, वैसे वे अपने मुंह में जो पाते हैं झोंकते रहते हैं। उपदेशकों, गुरुओं, अध्यापकों आदि के दांत मोती के समान चमकते रहने चाहिए।

अपात्रों के पीछे मत दौड़ो। सत्पात्रों को उपदेश दो। "जो जिव झाँकि न उपजै, तो कहा पुकार कबीर।" यदि व्यक्ति के मन में प्रेम न उत्पन्न हो तो उपदेश देने से क्या फायदा! अतएव सत्पात्रों को उपदेश दो।

"घर-घर सायर बारि" सबको अहंकार है कि हम ज्ञानी हैं। सबके मन में ज्ञान का सागर होने का अहंभाव है। मुझे तो कई बार ऐसा होता है। लोग मिलने आते हैं और जब तक पास में बैठे रहते हैं केवल अपनी बातें सुनाते रहते हैं। वे सुनना कुछ भी नहीं चाहते। जब वे अपना वक्तव्य देकर उठकर जाने लगते हैं तब कहते हैं कि आपके सत्संग से बड़ा आनन्द आया।

सद्गुरु विशाल साहेब से एक सज्जन मिलने आये। नमस्कार कर बैठ गये और लगे श्लोक पर श्लोक झाड़ने। बहुत देर तक वे धाराप्रवाह अपनी बातें कहते रहे; और बीच-बीच में विशाल देव से कहते जाते थे कि महाराज, आप कुछ सुनावें। विशाल देव चुप बैठे सुनते रहे। जब आगंतुक सज्जन बहुत समय तक बोलते रहे, तब अंत में उन्होंने पुनः कहा कि आप कुछ सुनावें। विशाल देव ने कहा—आपके शब्दों की भीड़ इतनी है कि उसमें घुस पाना ही कठिन है। जब कभी आप शांत होंगे, तब समय देखकर मैं भी कुछ कहूंगा।

वे सज्जन चले गये। कुछ दिनों के बाद पुनः आये और नमस्कार कर चुपचाप बैठ गये। दस-पन्द्रह मिनट बैठे रहे। वे भी चुप और विशाल देव भी चुप। वे इस चुप्पी से घबरा गये और उन्होंने कहा—"महाराज, कुछ सुनाइए।" विशालदेव ने कहा—अभी आप केवल बाहर से मौन हैं। आपके भीतर शब्दों की भीड़ उतनी ही है।

आदमी जब तक अपने मन को खाली कर, विनम्र होकर कुछ ग्रहण करने के लिए न बैठे, तब तक वह उपदेशों का पात्र नहीं है। जिसको सदुपदेशों की पिपासा होती है वह स्वयं विनम्र होकर गुरुजनों के निकट आता है। सद्गुरु ने इसी साखी प्रकरण में कहा है कि जिसमें ग्रहण करने की भावना होती है वह निरहंकारी होता है और जो अहंकारी होता है, वह ग्रहण करने वाला नहीं है। वह तो शब्दों की छाया पकड़कर घूमता है।[1]

गीताकार ने भी बताया है कि सत्योपदेश का अधिकारी कौन होता है! कहा है—"तत्त्व के जानने वाले ज्ञानियों की शरण में तू विनम्रतापूर्वक जाकर उनकी सेवा कर,

---

1. जहाँ गाहक तहाँ हौं नहीं, हौं तहाँ गाहक नाहिं।
बिना विवेक भटकत फिरे, पकरि शब्द की छाँहि॥ साखी 289॥

उनसे श्रद्धापूर्वक प्रश्न कर, वे तुम्हें उसका उपदेश करेंगे।"[1] यहां शिक्षा ग्रहण करने वाले के लिए तीन महत्त्वपूर्ण गुणों का वर्णन है—प्रणिपात, सेवा तथा प्रश्न। प्रणिपात का अर्थ है चरणों पर झुकना। अतएव विनय, सेवा तथा प्रश्न (जिज्ञासा) से ज्ञान पाने का अधिकार प्राप्त होता है।

सार्वजनिक सभा में तो प्रवक्ता प्रवचन देता है। हां, वह सभा में बैठे अधिकतम व्यक्तियों की योग्यता एवं पात्रता का अनुमान लगाकर तदनुसार उपदेश करता है। सार्वजनिक सभा में भी प्रवक्ता का यह कर्तव्य है कि वह ऐसा उपदेश करे जिससे कुछ-न-कुछ सभी प्रकार के पात्रों को शिक्षा मिल जाये।

चेतन हंस की गुरुता

हंसा मोति बिकानिया, कंचन थार भराय।
जो जाको मरम न जाने, सो ताको काह कराय॥ 13॥

शब्दार्थ—हंसा= जीव, चेतन, मनुष्य। मोति= मोती, मुक्ति। जो= भ्रमिक गुरु। जाको= मुक्ति का।

भावार्थ—जैसे हंस-पक्षी मोती चुगने के प्रलोभन में पड़कर तथा बधिक के जाल में फंसकर बाजार में बिक जाये, वैसे चेतन-मानव मुक्ति के प्रलोभन में पड़कर तथा थाली में स्वर्ण-मोहरें भरकर गुरुओं को अर्पित करता है और उनके जाल में फंसकर संसार-बाजार में बिक जाता है, किन्तु जो भ्रमिक एवं अधकचरे गुरु स्वयं मुक्ति का रहस्य नहीं जानते हैं, शिष्यों को क्या रास्ता बता सकते हैं! ॥ 13 ॥

व्याख्या—संसार में ज्ञान तथा मोक्ष के इच्छुकों की कमी नहीं है, परन्तु वे सच्चे सद्गुरु का आधार न पाकर भटक जाते हैं। विरही मुमुक्षु गुरु को अपने तन, मन तथा धन अर्पित करना चाहता है और यह उसका कर्तव्य ही है; परन्तु गुरु भी सही होना चाहिए।

शिष्य से तन, मन, धन अर्पित कराने वाले गुरु बहुत घूमते हैं, परन्तु वे स्वयं अध्यात्म का क, ख भी नहीं जानते।

किसी के लच्छेदार व्याख्यान सुनकर, रूप, जाति, प्रभुता, प्रचार देखकर अपने भावुकतावश शीघ्र ही उसको अपने तन, मन तथा धन को अर्पित करके, उसे अपना मोक्षदाता गुरु न मान लो। ऐसा न हो कि तुम धोखे में पड़ जाओ। यह जगत प्रसिद्ध उक्ति आदरणीय है "गुरु कीजै जानि के, पानी पीजै छानि के।"

गुरू गुरू में भेद है, गुरू गुरू में भाव।

---

1. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ गीता ॥ 4/34॥

गुरू सदा सो बंदिये, शब्द लखावै दाव॥ कबीर अमृतवाणी॥
सोई पारख प्रगट गुरु, जहाँ नहीं अनुमान।
सुख प्रत्यक्ष पूरण अमल, रहै यथारथ जान॥ पंचग्रन्थी, गुरुबोध॥

अर्थात—गुरुजनों में अन्तर है। उनके मनोभाव भी भिन्न-भिन्न हैं। वही गुरु वन्दनीय है जो सार-असार शब्दों को परखने की युक्ति बताता है। उन्हीं गुरुद्वारा यथार्थ ज्ञान की प्रत्यक्षता होती है, जिनमें अनुमान-कल्पना एवं मिथ्या मान्यताएं नहीं हैं। ऐसे सद्गुरु के मिलने से जीवन्मुक्ति की प्रत्यक्ष, पूर्ण, निर्मल एवं यथार्थ शांति मिलेगी।

हंसा तू सुवर्ण वर्ण, क्या वर्णों मैं तोहिं।
तरिवर पाय पहेलिहो, तबै सराहौं तोहिं॥ 14॥

शब्दार्थ—हंसा= हंस, चेतन जीव। सुवर्ण= उत्तम ज्ञान वर्ण। तरिवर= तरुवर, वृक्ष, मानव-शरीर। पहेलिहो= रहस्य को समझोगे।

भावार्थ—हे चेतन! तू उत्तम ज्ञान-रंग है। मैं तेरी क्या प्रशंसा करूं। मनुष्य-शरीर तो पाये हुए हो, परन्तु जब अपने रहस्य को समझोगे, तभी मैं तुम्हारी प्रशंसा करूंगा॥ 14॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर इस साखी में पाठकों को दो बातों की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। पहली बात जीव की श्रेष्ठता, दूसरी बात उसका रहस्य जानने की विशेषता।

यह जीव हंसरूप है। हंस एक सफेद पक्षी होता है। वह मानसरोवर जैसे स्वच्छ एवं विशाल सरोवर में रहता है। कवि कल्पनानुसार वह नीर-क्षीर विवेक करता है और मोती चुगता है। बातों को समझाने के लिए कवियों की अनेक कल्पनाएं होती हैं। सार यह है कि जीव शुद्ध चेतन है। वह मानव-शरीर जैसे उच्च शरीर में आज निवास कर रहा है। उसे नीर-क्षीर विवेकी होना चाहिए। उसे जड़-चेतन, बंध-मोक्ष, ग्राह्य-त्याज्य, खाद्य-अखाद्य, विधि-निषेध पर विचारकर सार ग्रहण करना चाहिए। उसे मोती चुगना चाहिए। अर्थात आत्मकल्याण का काम करना चाहिए। उसे सदैव सद्गुरु एवं स्वरूप-विचार तथा आत्मचिंतनरूपी मोती चुगना चाहिए।

"ह" और "स" दो-वर्ण तथा एक मात्रा बिन्दु (.) मिलकर हंस शब्द बनता है। यदि इस शब्द का पदच्छेद किया जाये, तो बन जायेगा 'हम्-स', यदि पूर्ण संस्कृत में कहें तो हो जायेगा 'अहम्-सः'। 'अहम्' का अर्थ 'मैं' तथा 'सः' का अर्थ 'वह' है। भावार्थ हुआ कि 'वह' 'मैं' हूं जो मेरा उद्देश्य है। 'वह' अन्य पुरुष है तथा 'मैं' उत्तम पुरुष है। वह परमात्मा, वह ब्रह्म, वह राम, वह मोक्ष आदि जहां तक अपने परम प्राप्तव्य को 'वह' रूप में अर्थात अन्य पुरुष के रूप में देखा जाता है, एक अज्ञान है। हंस का हंसत्व है कि वह मैं हूं। 'अहम्-सः' अर्थात 'वह मैं' हूं। मैं ही ईश्वर हूं, ब्रह्म हूं, परमात्मा हूं, राम हूं, मोक्ष हूं। मेरा प्राप्तव्य मेरा अपना चेतनस्वरूप ही है। उसी के

लिए ये सारे विशेषण लगाये जा सकते हैं।

भारतीय परम्परा में चेतन जीव को हंस पुराकाल से ही कहा गया है। कबीर साहेब ने तो बीजक में दर्जनों बार चेतन के अर्थ में हंस का नाम लिया है।

सद्गुरु कहते हैं कि चेतन शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। परन्तु उसकी प्रशंसा मैं तब करूंगा, जब वह अपनी पहेली को समझ लेगा। पहेली कहते हैं घुमावदार बात को। अपने आप को समझने की बात सर्वाधिक घुमावदार है। यह बात मानव-शरीर में ही समझी जा सकती है, क्योंकि मानव-शरीर विवेक-प्रधान है।

निकट की वस्तुएं कम दिखती हैं। हम दूसरे के पहने हुए कपड़े के दाग को तो शीघ्र देख लेते हैं, परन्तु अपने शरीर पर पहने हुए कपड़े के दाग शीघ्र नहीं देख पाते। हम दूर के पर्वत, यहां तक करोड़ों किलोमीटर दूर के तारे को देख लेते हैं, परन्तु अपनी आंखों में लगे हुए कज्जल या अपनी आंखों के पास उगे हुए बाल को नहीं देख पाते। इसी प्रकार हम बाहर की वस्तुओं को जानते हैं, किन्तु अपने आप को नहीं जानते कि हम कौन हैं!

मनुष्य का सबसे बड़ा अज्ञान है कि वह अपने आप को नहीं जानता। वह भाषाओं का व्याकरण जानता है, वकालत, डॉक्टरी तथा इन्जीनियरिंग जानता है, खगोल-भूगोल तथा विश्व की अनेक पहेलियों को समझने की चेष्टा करता है, परन्तु वह अपनी पहेली नहीं समझता कि मैं कौन हूं!

अपने आप को न समझने से ही जीवन में अंधियारी है। हमारी दृष्टि विषय-मुखी है, इसलिए अपने आप को समझना एक पहेली हो गया है, परन्तु यदि हम विषयों से हटकर अपने आप को समझने की चेष्टा करें, तो यह समझना बड़ा सरल है। जो सबको समझता है, वह मैं ही तो हूं। मैं पांचों ज्ञानेन्द्रियों एवं मन द्वारा पांचों विषयों एवं संसार को जानता हूं और जानकर उनका ग्रहण-त्याग करता हूं। इसलिए मैं उन सबसे भिन्न शुद्ध चेतन हूं। विषयों को भोगने से इच्छाएं बनती हैं, अन्यथा मैं इच्छारहित, पूर्णकाम, अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं पूर्ण तृप्त हूं। सारा जड़ दृश्य मुझसे सर्वथा भिन्न होने से मैं असंग, निराधार एवं अकेला हूं। इस बोध में स्थित हो जाने से जीवन में केवल चिरशांति ही रह जाती है। यही मानव का लक्ष्य है। यही स्थिति प्राप्त करने पर सद्गुरु उसकी प्रशंसा करना चाहते हैं। वे कहते हैं, जीव मूलतः शुद्ध-मुक्त तो है ही, परन्तु जब वह व्यवहारतः भी अपने आप को वैसा कर ले, तब उसकी प्रशंसा है।

मनुष्य को चाहिए कि वह धन, पद, वर्ण, शरीर, विद्या, सम्मान, महंती, ऐश्वर्य आदि के सारे अहंकार छोड़कर निष्पक्षतापूर्वक सत्य को समझ्ने का प्रयास करे। संसार की सारी चीजें नाशवान, क्षणभंगुर एवं स्वप्नवत हैं। अपना सत्य स्वरूप ही अपना परम निधान है। उसको समझना तथा उसमें स्थित होना ही सबसे बड़ी बुद्धिमानी है।

हंसा तू तो सबल था, हलुकी अपनी चाल।
रंग कुरंगे रंगिया, तैं किया और लगवार॥ 15॥

शब्दार्थ—रंग= भाव। कुरंगे= कुभावना में, विषय-वासना में। लगवार= उपपति, अपने ऊपर ईश्वरादि की कल्पना।

भावार्थ—हे चेतन! तू तो ज्ञान से अत्यंत ठोस, महान शक्तिशाली था और है। परन्तु अपने बुरे आचरणों से हलका हो गया है। तू विषय-वासनाओं और मनःकल्पनाओं के रंग में रंग गया है। तू स्वतन्त्र सम्राट होते हुए अपने ऊपर दूसरा मालिक मान रखा है॥ 15॥

व्याख्या—यह सबल जीव निर्बल क्यों बना है! इस साखी में सद्गुरु इसके दो कारण बताते हैं। एक है विषय-वासनाओं की आसक्ति और दूसरी बात है अपने ऊपर कर्ता-धर्ता मान लेना। इन दोनों कारणों से जीव की चाल हलकी हो गयी है। वह विषयों का एवं ईश्वर का मुहताज हो गया है।

शरीरधारी को पांचों विषयों का जीवन में उपयोग करना पड़ता है। अतएव विवेक तथा अनासक्तिपूर्वक शरीर-निर्वाह लेना कल्याण में सहायक है। परन्तु शरीर-निर्वाह के अलावा काम-भोग तथा अन्य राग-रंग जिससे मन में विषयों की आसक्ति पुष्ट होती हो, ऐसे विषय-सेवन से जीव विषयासक्ति एवं मोह में बंध जाता है। जिसका मन संसार के किसी भी विषय में बंधा है, वह न स्वतन्त्र हो सकता है और न सबल। यद्यपि जीव स्वतः सबल है, परन्तु विषयासक्ति के आवरण में पड़ने से उसे अपने बल की याद ही नहीं हो सकती। जो कहीं भी आसक्त है, वह कायर एवं निर्बल हो जाता है। राजा दशरथ की कैकेयी में आसक्ति होने से ही, वे कैकेयी के क्रुद्ध होने पर, उसके सामने दीन बने गिड़गिड़ा रहे थे।

कहीं भी मोह होने से ही आसक्ति बनती है, और जहां हम मोह करते हैं, उसकी कीमत अपने से अधिक मान लेते हैं। जब हम किसी विषय की कीमत अपने से अधिक मान लेते हैं, तब उससे हम छोटे हो जाते हैं। यही निर्बलता है। आध्यात्मिक दृष्टि से वही पूर्णरूप से सबल हो सकता है, जो कहीं भी आसक्त न हो। विषयों की सारहीनता तथा आसक्ति के दुष्परिणाम को जो पूर्णरूपेण समझता है, वह आसक्ति को सांप-बिच्छू एवं बाघ-सिंह से भी अधिक भयंकर समझता है।

दुर्बलता का दूसरा कारण है अपने ऊपर दूसरा कर्ता-धर्ता मान लेना। मनुष्य की इच्छाएं पूरी नहीं होतीं, इसलिए वह अपने आप को निर्बल मान लेता है और अपने ऊपर एक सर्वसमर्थ ईश्वर की कल्पना करता है और आशा करता है कि जब हम उसके सामने विनय-वंदना करेंगे, रोयें-गायेंगे तब वह हमारी सारी इच्छाओं को पूरी कर देगा। उक्त भावना को लेकर वह मन से निर्बल बना एक कल्पित धारणा के सामने जीवनभर घुटने टेककर रोता है।

इच्छाओं का न पूरी होना तो अपने अज्ञान से है। हम विषयासक्त हैं और नाना

इच्छाएं पैदा करते हैं, इसलिए वे पूरी नहीं होतीं। वस्तुतः इच्छाएं पूरी नहीं होतीं, वे निवृत्त की जाती हैं। जब ज्ञान हो जाता है और आदमी विषयों की आसक्ति छोड़ देता है, तब वह व्यर्थ इच्छाओं को उठाता ही नहीं। रही शरीर की मुख्य आवश्यकताएं, वे श्रम करने से अपने आप पूरी होती रहती हैं। उसके लिए किसी के सामने गिड़गिड़ाने की आवश्यकता नहीं है।

जहां तक संसार के प्राणी-पदार्थों का बिछुड़ना, बिगड़ना, विनशना, शरीर में रोग लगना तथा जीवन में उतार-चढ़ाव आना है, इसे कोई रोक नहीं सकता। रोग और समस्याओं के प्रतिरोध में संयम, श्रम और धैर्य का आधार लेना चाहिए। संसार के सारे प्राणी-पदार्थ नाशवान हैं, इन्हें कोई तथाकथित ईश्वर-परमात्मा भी स्थिर बनाये नहीं रख सकता।

मनुष्य ने अपने स्वतः सबल, शुद्ध चेतनस्वरूप की भूल से मन द्वारा ईश्वर की सृष्टि की और भक्तिभावना के नाम पर ईश्वर की मनःकल्पित धारणा में इतना आसक्त हो गया कि अपने आपा को भूल गया। प्रार्थना-वंदना के नाम पर रोना-गिड़गिड़ाना उसकी नियति हो गयी। भूलवश जीव मान लिया कि हम अंश, प्रतिबिम्ब, अल्पज्ञ एवं अनाथ हैं। जैसे मनुष्य अपने हाथों से मिट्टी, पत्थर, धातु आदि की मूर्ति बनाकर उसके सामने घुटने टेकता है, वैसे वह मन से ईश्वर की मूर्ति बनाकर उसके सामने घुटने टेकता है।

अपने ऊपर ईश्वर की अवधारणा बनाकर जीव कभी अपने सबल चेतनस्वरूप की पहचान नहीं कर सकता। ईश्वरवादी को अपनी महत्ता का सच्चा बोध कभी हो ही नहीं सकता।

अतएव सद्गुरु कहते हैं कि हे हंस चेतन! तू विषयासक्ति की दुर्बलता तथा अपने ऊपर कर्ता-धर्ता की बनायी हुई मान्यता को दूर कर। अपनी पूर्णता, सबलता, स्वतन्त्रता को पहचान और अपने गरिमामय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो।

हंसा सरवर तजि चले, देही परिगौ सून।
कहहिं कबीर पुकारि के, तेहि दर तेही थून॥ 16॥

शब्दार्थ—सरवर= तालाब, देह।

भावार्थ—जब जीव शरीर छोड़कर चला जाता है, तब यह शरीर चेतना से शून्य होकर मुरदा हो जाता है। सद्गुरु जोर देकर कहते हैं कि कर्माध्यासी जीव पुनः उसी गर्भ में प्रवेश करता है, जहां उसका शरीर निर्मित होता है॥ 16॥

व्याख्या—शरीर जड़ है। यह तभी तक मंगलमय प्रतीत होता है, जब तक इसमें जीव निवास करता है। जीव के निकल जाने पर यह व्यर्थ है। अतः शरीर से जीव पृथक और सत्य है।

पृथ्वी, जलादि भौतिक तत्त्वसमुदाय प्रत्यक्ष और सत्य हैं। उनके असंख्य परमाणु अखण्ड हैं। कहा जाता है कि विज्ञान ने आज परमाणु का भी विखण्डन कर दिया है;

परन्तु परमाणु का अर्थ तो होता है, जो अत्यन्त छोटा हो, जिसका पुनः खण्डन न किया जा सके, अर्थात भौतिक द्रव्य की अन्तिम इकाई ही परमाणु है, वह अखण्ड ही होगा। उन भौतिक इकाइयों परमाणुओं का यौगिक रूप ही यह संसार है जो हमारे सामने है, यह प्रवाहरूप अनादि-अनंत है। यह केवल जड़ है। इसमें चेतन के कोई लक्षण नहीं हैं। यह दृश्य और भोग्य है। इसका द्रष्टा और भोक्ता संसारी चेतन अर्थात जीव है।

द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य, चेतन और जड़ एक नहीं होते, दोनों के धर्म विरोधी हैं। मूल में जो गुण-धर्म नहीं रहेंगे, उसके कार्य में वे नहीं आ सकते। महुआ, गुड़, अन्न सड़ाकर शराब बनाने से उसमें जो नशा आ जाता है, तो उसके मूल— महुआ, गुड़, अन्न इत्यादि में सूक्ष्मरूप से नशा रहता है। महुआ आदि भी जड़ हैं, नशा भी जड़ है। इसमें कोई विलक्षणता नहीं। अतएव जड़ पदार्थों के संयोग से चेतन की उत्पत्ति होना सर्वथा असंभव है। इसी प्रकार चेतन में केवल ज्ञान-धर्म, ज्ञान-गुण, ज्ञान-आकार है, अर्थात वह केवल ज्ञानमय है। अतएव उससे जड़ भौतिक तत्त्वों की उत्पत्ति मानना भी सर्वथा अनुचित है, क्योंकि ऐसा होना असंभव है। अतएव जड़ भौतिक कारण-कार्य पदार्थों से नाना अविनाशी चेतन पृथक और स्वतन्त्र पदार्थ हैं।

जड़ तत्त्वों की अंतिम इकाई (परमाणु कहो या कुछ कहो) अदृश्य है, अखण्ड है। वह कहीं भी रहे, उसका नाश कभी नहीं। चेतन तो अभौतिक है, उसका सूक्ष्म और अदृश्य रहना स्वाभाविक है। वह चेतन भी कहीं रहे, उसका नाश नहीं। जड़ तत्त्वों के परमाणु कहीं भी रहें, वे अपने मूलतः गुण-धर्मों के अनुसार क्रिया करते रहेंगे। इसी प्रकार जब तक जगत-वासनाओं का नाश नहीं होता, तब तक जीव भी चाहे जहां रहे, वह शरीर धारण करके नाना क्रिया करना, पुनः छोड़ना और वासनावश शरीर धारण करना यह व्यवहार करता रहेगा।

भौतिक परमाणुओं में उनके गुण-धर्म-क्रियादि स्वभावसिद्ध हैं। अतएव उनका प्रवाह सदैव चलता रहेगा। परन्तु चेतन में जगत-वासना विषयासक्तिवश है। इसके नाश होने पर जगत-वासना का अंत हो सकता है और जगत-वासना नष्ट होने पर जीव का संसार में आना-जाना, जन्मना-मरना समाप्त हो जाता है। जड़ परमाणुओं में क्रिया स्वाभाविक है, इसलिए वह नित्य है। जीव जान-जान तथा मान-मानकर क्रिया करता है। यदि विवेकी सद्गुरु के सत्संग द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को समझ ले और जड़-वासना, जगदासक्ति में जैसे अनंत दुख भरे हैं वह ठीक-ठीक परख ले तो उसे अवश्य छोड़ देगा। फिर जगत-राग कट जाने पर जन्म-मरण का प्रश्न आ ही नहीं सकता। परन्तु जब तक जगत-वासना है, जीव नाना कर्म कर एक शरीर से दूसरे शरीर में परिभ्रमण करते तथा दुख भोगते हैं। मानव का अन्तिम और परमोच्च कर्तव्य तो यही है कि इन दुखों से छुट्टी ले। यह कोई नशा नहीं, यथार्थ ज्ञान की बात है। आसक्तिरहित पुरुष इसी शरीर में ऐसी शांति प्राप्त करता है जिसके अन्यत्र दर्शन भी

दुर्लभ हैं।

प्रकृत साखी में तो यह चर्चा है कि अविनाशी जीव शरीर को छोड़कर जब चल देता है, तब शरीर मुरदा हो जाता है और जीव पुनः कर्मवश दूसरा शरीर धारण करता है। अतः पुनर्जन्म और कर्म-फल-भोग सत्य हैं। इससे मुक्ति का मार्ग सद्गुरु ने बताया है—

"कहहिं कबीर सत सुकृत मिलै, तो बहुरि न झूलै आन।"

(बीजक, हिण्डोला-1)

हंस बकु देखा एक रंग, चरें हरियरे ताल।
हंस क्षीर ते जानिये, बकुहिं धरेंगे काल॥ 17॥

शब्दार्थ—हरियरे ताल= हरे-भरे सरोवर में।

भावार्थ—देखा कि हंस और बगले एक ही उज्ज्वल रंग में हैं, और हरे-भरे ताल में चर रहे हैं। परन्तु हंस की पहचान उसके नीर-क्षीर विवेक में होती है, और बगले की पहचान उसकी क्रूरता में होती है। वह मछली आदि जीवों को पकड़कर खाता है॥ 17॥

व्याख्या—सद्गुरु कबीर अपनी वाणियों में पदे-पदे रूपकों एवं अलंकारों का प्रयोग करने में बड़े प्रवीण हैं। ऐसे समर्थ कवि प्रयत्न कर अलंकारों का प्रयोग नहीं करते, किन्तु उनके हृदय से वह सब स्वाभाविक ढंग से निकलता रहता है। यहां सज्जन-असज्जन के लिए हंस-बकु तथा संसार के लिए हरे-भरे ताल के कितने सुन्दर रूपक हैं।

यह सच है कि मनुष्यों की आकृति और वस्त्रों से उन्हें बहुत ज्यादा नहीं पहचाना जा सकता। किसी नये आदमी की पहली पहचान का माध्यम उसकी आकृति और पहनाव है, दूसरा माध्यम उसकी बोली और तीसरा माध्यम उसके आचरण हैं। किसी की पूर्णतया पहचान उसके आचरण से ही होती है।

आजकल तो और मुश्किल हो गया है। पढ़ाई-लिखाई बढ़ गयी है। राजनीतिबाजी बढ़ गयी है तथा कपड़े की स्वच्छता भी बढ़ गयी है। अतएव बड़ी अच्छी पोशाक तथा मीठी और सभ्य भाषा में भी कुछ लोग ऐसे मिलते हैं जो मोर की तरह देखने में सुन्दर और मीठे बोलने वाले होते हैं, किन्तु खाते हैं सांप। मोर के वेष और भाषा में जो भूल जायेगा, वह उसकी सच्ची पहचान नहीं कर सकेगा। उसकी असली पहचान तो तब होती है जब उसे सांप खाते देखा जाता है।

बगला भी वेष में कितना उज्ज्वल हंस के तुल्य होता है। वह सरोवर के निकट अर्धउन्मीलित नेत्र कर बैठता है, तो लगता है कि तपस्वी ध्यान कर रहा है और कभी-कभी जब एक पैर उठाकर केवल एक ही पैर के बल खड़ा होता है, तब तो लगता है कि तपस्वी एक पैर पर ही खड़ा होकर तपस्या कर रहा है; परन्तु यह सब मछली पकड़ने की सुविधा के लिए करता है। उसकी असली पहचान तो तब होती है,

जब वह मछलियों पर टूट पड़ता है।

सफेदपोशी और सभ्यता का दिखावाकर दूसरे के अधिकार को छीनकर खाने वालों पर जब नजर डालिए तो दुनिया में उनका बहुत बड़ा दल दिखता है, जो ऊंचे से नीचे तक व्याप्त है। आज के विकास-युग में इसका भी काफी विकास हुआ है।

सद्गुरु कहते हैं कि इस संसार में हंस और बगले—दोनों हैं। किसी के स्वच्छ वेष में न भूल जाना चाहिए। केवल उसकी वाणी में भी मत धोखा खाना। उसकी ऊपरी मधुर चाल-ढाल से भी मत ठगाना। उसकी पहचान उसकी करनी से करना। यदि आदमी बगले के समान दूसरे की जान मारकर खाता है, दूसरे के अधिकार को हड़पता है, तो उसकी बाहरी सभ्यता और सफेदपोशी किस काम की!

हंस की पहचान नीर-क्षीर-विवेक में है। सज्जन हर जगह से बुराई त्यागकर केवल अच्छाई लेता है। संसार में अच्छाई-बुराई सब हैं। यदि हम हर जगह की बुराई लें तो हमारा पूरा जीवन बुराइयों से भर जायेगा। किन्तु सब जगह से अच्छाई चुनें, तो हमारा जीवन अच्छाइयों से भर जायेगा।

जो दूसरों की बुराइयों की चर्चा करता रहता है, जिसे परदोष-दर्शन में ही रुचि है, वह बगला है, काक है, जोंक है। न उसकी समाज में प्रतिष्ठा होती है और न अपनी अन्तरात्मा में। उसको जीवन में शांति मिल ही नहीं सकती।

हंस के लक्षण ही अलग होते हैं। विवेकवान पुरुष परदोष-दर्शन, परनिंदा, पर-चर्चा को अपनी विषय-वस्तु नहीं बनाता। "सोई कहंता सोइ होउगे"[1] हम जैसा कहेंगे, सुनेंगे तथा सोचेंगे, वैसा ही हो जायेंगे। अतएव सज्जन सदैव मधु इकट्ठा करता है। जिन्दगी का दीपक क्षणिक है। वह कब बुझ जायेगा, ठिकाना नहीं है। इसलिए हमें हरक्षण सावधान रहना चाहिए कि कोई गंदे संस्कार न ग्रहण हों। सद्गुरु कहते हैं कि तुम हंसवत क्षीरग्राही बनो, बगले की तरह किसी का मांस नहीं खाना।

जीव का बन्धन क्यों हैं?

काहे हरिनी दूबरी, यही हरियरे ताल।
लक्ष अहेरी एक मृग, केतिक टारों भाल॥ 18॥

शब्दार्थ—लक्ष=लाख की संख्या, तात्पर्य में बहुत। अहेरी=शिकारी। भाल=तीर, तीर का फल (नोक), भाला।

भावार्थ—ऐसे हरे-भरे ताल में हिरनी दुबली क्यों है? (हिरनी ने उत्तर दिया—) मुझ एक के ऊपर लाखों शिकारी बाण चला रहे हैं। मैं कितने बाणों से अपने आप को बचाऊं!

---

1. रमैनी, साखी 24।

अभिप्राय है कि विवेकसंपन्न मानव-जीवन को पाकर भी जीव दुखी क्यों है? उत्तर है कि उसके भीतर-बाहर लाखों शिकारी उसके पीछे पड़े हैं। वह अपने आप को कितने प्रहारों से बचाये!॥ 18॥

व्याख्या—यहां हिरनी एवं मृग जीव के लिए रूपक है। मानव-शरीर विवेकसंपन्न है। ऐसे उत्तम शरीर में रहकर भी जीव दुखी क्यों है? क्योंकि उसके बाहर-भीतर लाखों शिकारी उसे मार रहे हैं। भीतर विषयों की असंख्य इच्छाएं; काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, राग, द्वेषादि के अनेक कुसंस्कार; भ्रांति, अबोध, संशय आदि अज्ञान के दल अपने जहरीले बाणों से जीव पर निरन्तर वार करते हैं।

बाहर बहुत प्रकार के मनुष्यों की संगत है। उनमें एक-से-एक शूर-वीर हैं जो समझा-बुझाकर जीव को विषय-वासनाओं, भ्रांति, संदेह एवं अज्ञान की खाई में ढकेलने वाले हैं। सद्गुरु विशाल देव भी कहते हैं—"बाहर में कुसंग पांचों विषयों के पदार्थ एवं प्राणी हैं जो दुर्बुद्धि उत्पन्न कर मन को जलाते हैं, साथ में कुसंग शरीर, मन तथा इन्द्रियां हैं और भीतर में कुसंग इच्छाएं तथा चाहनाएं हैं।"[1]

इस प्रकार मन में अनादिअभ्यस्त विषय-वासनाएं तथा बाहर पांचों विषयों का गरम बाजार और प्राणी-पदार्थों का कुसंग मनुष्य को अविवेक की ओर ले जाने में निरन्तर सहायक बनते हैं। इनका फल यह होता है कि मनुष्य सदैव मन से मलिन, अध्यात्म से निर्बल एवं चित्त से दुखी बना रहता है।

मानव-जीवन दुख भोगने के लिए नहीं मिला है। मानव-जीवन में विवेक के बीज हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह सज्जनों एवं साधुओं की संगति करे, सद्ग्रन्थों का अध्ययन करे और एकांत में बैठ, हृदय की गहराई में उतरकर चिंतन करे और अपने विवेक को जगाये। हृदय में विवेक का प्रकाश जग जाने से मन की सारी दुर्बलताएं, विषय-वासनाएं एवं कुसंस्काररूपी अन्धकार गायब हो जायेगा। मन विवेक से सबल हो जाने पर बाहर के प्राणी-पदार्थ प्रलोभन नहीं उत्पन्न कर सकेंगे। जो दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति हृदय को ज्ञान से आलोकित कर लेता है, उस पर किसी का गांस-फांस नहीं लगता। कुसंगी लोग उसी को भुला पाते हैं जो भूलना चाहता है, और वासनाएं भी उसी को भटका पाती हैं जो भटकना चाहता है। जो सुज्ञ जीव सत्संग, स्वाध्याय एवं साधना के द्वारा विषयासक्ति और अज्ञान को हटा देता है, वह महान बलशाली हो जाता है। उसके जीवन में भटकाव नाम की कोई बात नहीं है। सद्गुरु रामरहस साहेब भी कहते हैं—

जिन जिन पारख पाये, तिन-तिन लागि न फाँस।
अज्ञ जीव परबस परे, समुझि परी नहिं गाँस॥ पंचग्रंथी, टकसार॥

---

1. बाहेर कुसँग पदारथ संगति, जड़ चेतन मिलि दुर्मति दाह।
साथै कुसँग देह मन इन्द्री, अन्दर कुसँग कामना चाह॥ भवयान 4/6/5॥

तीन लोक भौ पींजरा, पाप पुण्य भौ जाल।
सकल जीव सावज भये, एक अहेरी काल॥ 19॥

शब्दार्थ—तीन लोक=सत, रज, तम। सावज=शिकार। काल=मन की कल्पनाएं, अज्ञान।

भावार्थ—सत, रज और तम ये तीनों गुण पिंजड़े बन गये, पाप तथा पुण्य जाल बन गये और सब जीव इनमें फंसने वाले शिकार बन गये। एक अज्ञान-काल-शिकारी ने सबको फंसाकर मारा॥ 19॥

व्याख्या—किसी भी वस्तु का दुरुपयोग मनुष्य का पतनकारी तथा सदुपयोग कल्याणकारी है। सत, रज और तम—इन तीनों गुणों की जीवन में परम आवश्यकता है। यदि इनका सदुपयोग किया जाये तो ये जीवन के कल्याण में सहायक बनते हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड सब कुछ तो त्रिगुणात्मक है। जीवन के क्षण-क्षण के व्यवहार में तीनों गुण बरतते हैं। ज्ञान, प्रसन्नता एवं एकाग्रता सतोगुण है, क्रियामात्र रजोगुण है और आलस्य, निद्रादि तमोगुण है। सतोगुण का कार्य ज्ञान तथा प्रसन्नता है और इसकी आवश्यकता है। परन्तु क्रियाशीलतारूप रजोगुण की भी आवश्यकता है। मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूं, यह भी रजोगुण का कार्य है। क्योंकि यह एक क्रियाशीलता है। जब हम सोने चलते हैं, तब बत्ती बुझा देते हैं। अन्धकार तथा नींद दोनों ही तमोगुण के कार्य हैं; परन्तु दोनों की जीवन में बड़ी आवश्यकता है, यह समझना सरल है।

इनका दुरुपयोग बंधन बन जाता है। ज्ञान सतोगुण का कार्य है, परन्तु यदि ज्ञान में अहंकार हो तो वही बंधन का कारण बनता है। ऐसे अन्य गुणों के विषय में भी समझें। गीताकार ने इस विषय को बड़ा साफ कहा है कि कैसे ये तीनों गुण बंधन बन जाते हैं। वे कहते हैं—

"हे निष्पाप! उनमें से सत्त्व निर्मल, प्रकाशस्वरूप तथा स्वास्थ्यप्रद है; अतएव वह सुख तथा ज्ञान की आसक्ति (अहंभाव) में बांधता है॥ 6॥ हे कौन्तेय! तुम यह समझो कि रागरूप रजोगुण कामना तथा आसक्ति से उत्पन्न हुआ है। वह जीव को कर्म की आसक्ति में बांधता है॥ 7॥ सब देहधारियों को भ्रम में डालने वाले तमस को अज्ञान से उत्पन्न हुआ समझो। हे अर्जुन! वह जीव को प्रमाद, आलस्य तथा निद्रा में बांधता है॥ 8॥[1]

---

1. तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ 6॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनाम्॥ 7॥

उक्त तीनों गुणों के कार्य, जिनका सदुपयोग करने से वे कल्याणकारी होते हैं, उन्हीं का दुरुपयोग करने पर उक्त ढंग से जीव के फंसने के पिंजड़े बन जाते हैं।

"पाप पुण्य भौ जाल" सद्गुरु कहते हैं कि ये पाप और पुण्य दोनों जीव के फंसने के लिए जाल बन जाते हैं। जीवन में पाप को तो कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। निश्चित ही जीव के लिए यह केवल बंधन ही है। परन्तु पुण्य कर्मों की जीवन में महती आवश्यकता है। आदमी एकदम निष्क्रिय होकर हरक्षण नहीं रह सकता। यदि वह पुण्य कर्म एवं शुभ कार्य नहीं करेगा, तो उससे पाप एवं अशुभ कर्म होने लगेंगे। अतएव पुण्यकर्म करते रहने की बड़ी आवश्यकता है। हां, उसे अनासक्ति, अहंकार रहित तथा निष्काम भाव से करना चाहिए। परन्तु जब आदमी पुण्यकर्म कर उसका अहंकार करता है, तब वह उसके लिए बन्धन बन जाता है। पाप-कर्म तो अहंकारवश होते ही हैं, परन्तु मनुष्य जब पुण्य-कर्म करता है, तब अविवेकवश उसमें भी अहंकार कर लेता है। इसलिए पुण्य-कर्म भी जीव के लिए बन्धन बन जाते हैं। इसी लक्ष्य को लेकर सद्गुरु ने कहा है—

"कहहिं कबीर ये दोनों बेरी। एक लोहा एक सोना केरी॥"

इस प्रकार तीनों गुणों के कार्य और पाप-पुण्य कर्म जीव के अज्ञान तथा अहंकार-वश उसके फंसने के लिए पिंजड़े एवं जाल बन गये। इस जाल में जीवों को फंसाने वाला एक ही शिकारी है—काल! काल का अर्थ है मन की अविवेकपूर्ण कल्पनाएं। मन का अज्ञान, मन की कल्पनाएं, मन की मलिनता ही काल है। यदि यह काल मर जाये, तो कहीं कोई बन्धन नहीं। केवल मन शुद्ध हो जाये, तो जीवन के सारे व्यवहार इतने निर्मल हो जायेंगे कि तीनों गुणों के कार्य कल्याणकारी बन जायेंगे। तब जीवन में पाप तो होगा ही नहीं, पुण्य-कर्म भी निष्काम तथा निर्मानभाव से होंगे और जीवन पूर्ण निर्ग्रंथ, निर्मल, मुक्तरूप हो जायेगा।

लोभे जन्म गँमाइया, पापै खाया पून।
साधी सो आधी कहैं, तापर मेरा खून॥ 20॥

शब्दार्थ—पापै= लोभ ने। साधी= सिद्ध करने वाला, जो साधना में लगा हो, साधक, जीव। आधी= अधकचरा ज्ञान। खून= क्रोध, गुस्सा।

भावार्थ—लोग अपना जीवन लोभ में खो देते हैं। लोभ तो पाप की जड़ है। वह पुण्य को खा जाता है। अधकचरे गुरु साधक-जीव से परमार्थ की आधी-अधूरी बातें करते हैं। उन पर मुझे गुस्सा आता है॥ 20॥

व्याख्या—पुत्र का लोभ, स्त्री का लोभ, परिवार का लोभ, धन का लोभ, ऋद्धि-सिद्धि का लोभ, ईश्वर-दर्शन का लोभ, मोक्ष का लोभ—बहुत-से लोभ होते

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ 8॥ गीता, अध्याय 14॥

हैं। इन लोभों में पड़कर आदमी अपना जीवन खोता है। ऐसे लोभियों को ठग-गुरु मिल जाते हैं और उन्हें मूर्ख बनाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। श्री गुरुदयाल साहेब ने कहा है—"लोभी के गांव में ठग उपासा नहीं रहता। जो जिस वस्तु का लोभी होता है उसी वस्तु को देने का झांसा देकर ठग उसे बेवकूफ बनाने के लिए उसके घर पर वास करता है।"[1]

जितना अनाड़ी गंवई अनपढ़ होता है, उतना ही अनाड़ी शहरी तथा पढ़ा-लिखा होता है। लोभ में पड़कर धोखेबाज गुरुओं से लोग ठगाते रहते हैं। काशी में एक समझदार कहे जाने वाले सेठ ने पंडित नामधारियों के झांसे में पड़कर गंगा के तट पर इसलिए ब्राह्मणों को भोजन कराया तथा उन्हें दक्षिणा दी थी, कि इससे मकान के तीसरे तल्ले पर नगरपालिका का पानी खूब चढ़ने लगेगा। क्षत्रियों के एक शिक्षित गांव में एक पंडित नामधारी अपने को नेपाल-नरेश का गुरु बताकर इस आधार पर हजारों रुपये उड़ा ले गया कि मैं पूजा कर दूंगा और तुम लोगों को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हो जायेगी तथा अन्य अभाव दूर हो जायेंगे। अच्छे-अच्छे अधिकारी, जज, वकील, प्रोफेसर, राजनेता, मंत्री तक अपने-अपने मंगल के लिए झूठे तंत्र-मंत्र करने वाले धूर्तों के झांसे में पड़े बराबर अपने आप को उनसे ठगाते रहते हैं।

इलाहाबाद के पश्चिम पीपलगांव में एक धूर्त अपने हाथों से पानी का स्पर्श करके लोगों को इस आधार पर प्रसाद देने लगा कि इसके सेवन से सब प्रकार की सफलता मिलेगी, तो बोतल में पानी भर-भरकर जो भीड़ चारों तरफ से वहां पहुंचने लगी कि इलाहाबाद के रिक्शे, तांगे तथा टैक्सी वालों की चांदी हो गयी।

ईश्वर-दर्शन तथा मोक्ष के लोभियों को भी धूर्त लोग खूब ठगते हैं। गुरुआ लोग शून्य को, ज्योति को, शब्द-नाद आदि को ईश्वर-दर्शन बताकर उनसे अपना दासत्व कराते हैं।

वस्तुतः जो अपने पुरुषार्थ तथा प्रारब्ध में होता है वही मिलता है। पूजा करके, मंत्र-तंत्र करके कोई कुछ नहीं दे सकता। यदि यह सब करने से कुछ कभी मिल जाता है, तो यह एक तुक है। वह भी मिलता है अपने प्रारब्ध से ही, मंत्र-तंत्र एवं पूजा से नहीं। ईश्वर-दर्शन-जैसी चीज तो कुछ है ही नहीं। दर्शन दृश्य के होते हैं। वह सब माया है, जड़ है तथा अपने मन की कल्पना है। मोक्ष बाहर से मिलने की कोई वस्तु नहीं। वह तो मन का वासनाहीन होकर शांत हो जाना है, जो स्वरूपज्ञान, विवेक तथा अनासक्ति का फल है।

मनुष्यों का यह लोभरूपी पाप सत्यज्ञान, सत्यमार्ग एवं सत्यधर्मरूपी पुण्य का नाश करता है। कहा जाता है कि एक युवक पंडित पढ़-लिखकर काशी से अपने घर

---

1. कबीर लोभी के गांव में, ठग नहिं परे उपास।
जो जेहि मत को लोभिया, तेहि घर ठग को वास॥ कबीर परिचय॥

गया। उसका गौना लाया गया। नववधू पत्नी ने अपने पंडित-पति से पूछा—"आपने अपनी विद्या पढ़कर समाप्त कर ली?" पंडित ने सकारात्मक उत्तर दिया। पत्नी ने पूछा—"पाप का बाप क्या है?" पंडित ने कहा—"मैंने यह तो नहीं पढ़ा।" पत्नी ने कहा—"तब तुम्हारा सब पढ़ना बेकार है।"

पंडित अपनी अपढ़ पत्नी से पराजित होकर बहुत दुखी हुए और पुनः काशी चल दिये यह पढ़ने के लिए कि पाप का बाप क्या है!

काशी के जिस मुहल्ले में पंडित पहले रहते थे, उसी में एक वेश्या रहती थी। पंडित को लौट आया देख उन्हें बुलाकर उसने उनसे लौटने का कारण पूछा। पंडित ने कारण बता दिया। वेश्या ने आश्वासन दिया—"आप मेरे घर पर रहिए, मैं आज ही आपको बता दूंगी कि पाप का बाप क्या है!"

पंडित रुक गये। वेश्या ने एक थाली में जलपान लाया और साथ में दस अशर्फियां। पंडित संकोच में पड़ गये। वेश्या के हाथ का जलपान पंडित कब करने वाले थे! परन्तु साथ में दस अशर्फियां थीं। बहुत उठापटक के बाद अशर्फियों के लोभ ने उनको जलपान करने के लिए तैयार कर दिया।

वेश्या ने कुछ देर में भोजन की थाली लाकर पंडित के सामने रख दी और साथ में सौ अशर्फियां भी। पंडित जी बड़े सकते में पड़े। उन्होंने दरवाजे की तरफ देखा, कोई दूसरा नहीं था। उन्होंने अपने मन को समझाया। सौ अशर्फियां कम नहीं होती। पंडित भोजन जीम लिये।

चलने का समय हुआ। पंडित जी ने वेश्या से पूछा—"तो बताओ, पाप का बाप क्या है?" वेश्या ने कहा—"महाराज, क्या अभी बात समझ में नहीं आयी? क्या आप मेरे हाथ का भोजन कर सकते थे? यह तो अशर्फियों के लोभ ने ही कराया है। बस, पाप का बाप लोभ है, याद रखना!"

पंडित जी घर पर अपनी पत्नी से पराजित हुए थे। यहां एक वेश्या से पराजित हुए। 'पाप का बाप लोभ है,' हम लोग भी याद कर लें।

"साधी सो आधी कहैं" साधी कहते हैं जो सिद्ध करने में लगा हो। जो अपने जीवन के लक्ष्य को पाना चाहता है, वह साधक ही 'साधी' है। अधकचरे गुरु उनसे आधी बात करते हैं। गुरु कहलाने वाले जब स्वयं अधकचरे हैं, तब शिष्य एवं साधकों को भी आधी, अधूरी एवं अधकचरी बात ही बतायेंगे। 'नीम हकीम खतरे जान' जैसे अधकचरे डॉक्टर रोगियों के जीवन को ले डूबते हैं, वैसे अधकचरे गुरु साधकों के साधनात्मक जीवन को ले डूबते हैं।

सद्गुरु कहते हैं "तापर मेरा खून" ऐसे गुरुओं पर मुझे गुस्सा आता है। उनको जब स्वयं छाछ नहीं जुरता तब दूसरों को क्षीर बांटने क्यों चलते हैं! वे स्वयं खारी खाते हैं और दूसरों को कपूर बांटते हैं।

सार वचन का महत्त्व

आधी साखी सिर खड़ी, जो निरुवारी जाय।
क्या पण्डित की पोथिया, जो राति दिवस मिलि गाय॥ 21॥

शब्दार्थ—सिर खड़ी= रक्षक, पूर्ण कल्याणदायी एवं बोधप्रद। निरुवारी= निर्णय।

भावार्थ—यदि विचार एवं निर्णय करके आचरण में लायी जाये तो बोधप्रद आधी साखी भी पूर्ण कल्याणकारी हो सकती है। निर्णय-रहित पंडित की बड़ी-बड़ी पोथियों को रात-दिन गाने से क्या लाभ जिनमें स्वरूप का सच्चा बोध नहीं है॥ 21॥

व्याख्या—आधी साखी हो, आधा दोहा हो, चौपाई एवं श्लोक हो। अर्थात कोई छोटा-सा वाक्य हो; परन्तु यदि वह निर्णयपूर्ण वचन है और उसका हम पूर्ण विचारकर उसके आधार पर सार-असार, जड़-चेतन, बन्ध-मोक्ष का ठीक निर्णय कर लेते हैं, तो वह हमारे लिए पूर्ण कल्याणप्रद हो सकता है। संख्या एवं मात्रा का महत्त्व नहीं, गुण का महत्त्व है।

तथ्यपूर्ण आधी साखी भी हमारे सिर पर खड़ी हमारी रक्षा कर सकती है, यदि उस पर हम विचार करें और उसका आचरण करें।

"आधी साखी सिर खड़ी, जो निरुवारी जाय।" इस पंक्ति में मुख्य दो बातें हैं। एक तो यह कि आधी ही साखी हो, अर्थात छोटा ही वचन हो, परन्तु तथ्यपूर्ण हो। दूसरी बात है हम उसका निर्णय करें, शोध करें तथा उसका आचरण करें। 'निरुवार' का अर्थ है खोलना, छुड़ाना, मुक्त करना, सुलझाना, अलग-अलग करना, त्यागना, तय करना, फैसला करना आदि।

धर्म के क्षेत्र में बहुत-से संप्रदाय एवं धार्मिक लोग निर्णय करने, विचार करने एवं तर्क करने की राय नहीं देते। कबीर साहेब इसके विरुद्ध हैं। वे कहते हैं 'निरुवार' करना बहुत जरूरी है। जब हम बात-बात पर निर्णयकर सार तथा असार को अलग-अलग समझेंगे, तभी सार-ग्रहण एवं असार-त्याग होगा।

"क्या पण्डित की पोथिया, जो राति दिवस मिलि गाय।" सत्यासत्यविवेकिनी बुद्धि को 'पंडा' कहते हैं और जिसकी बुद्धि पंडा हो, उसको पंडित कहते हैं। इस प्रकार पंडित का मूल अर्थ विवेकी है। इसीलिए कबीर साहेब ने इस ग्रन्थ में जगह-जगह पंडितों को सादर सम्बोधित किया है—"बूझो पंडित ज्ञानी" तथा "कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेय विचारा।" इत्यादि।

परन्तु यहां पर पंडित का अर्थ विवेकी न होकर पत्राधारी पंडित पुरोहितों के लिए है। केवल ब्राह्मण नामधारी पुरोहित पंडितों के लिए ही नहीं, किन्तु संसार के किसी भी संप्रदाय के पुरोहित पंडित के लिए है। केवल ब्राह्मण पुरोहित-पंडितों की पोथियों में ही बकवास नहीं होती, किन्तु मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन, कबीरपंथ, नानकपंथ एवं

अन्य सभी पंथों के पुरोहितों की पोथियों की कम-बेश यही दशा है। हर मत के पुरोहित-पंडितों की पोथियों में आकाश-पाताल के कुलावे मिलाये गये हैं। उनकी मोटी-मोटी पोथियां अतिशयोक्तियों, मिथ्या महिमाओं तथा सांप्रदायिक भावनाओं से पूर्ण रहती हैं। उनमें निर्णय वचन तो काक-तालीय न्याय कहीं किंचित होते हैं, परन्तु वे उन्हीं महिमाओं में दबे रहते हैं अतएव हमें निर्णयवचनों पर ध्यान देना चाहिए।

जीव की सर्वोच्चता

पाँच तत्त्व का पूतरा, युक्ति रची मैं कीव।
मैं तोहि पूछौं पण्डिता, शब्द बड़ा की जीव॥ 22॥

शब्दार्थ—पूतरा= पुतला, देह। कीव= कर दिया।

भावार्थ—पांच तत्त्वों के इस पुतले शरीर को मैंने ही रचकर तैयार किया है। हे पंडितो! मैं तुमसे पूछता हूं "शब्द बड़ा होता है कि जीव?" ॥ 22 ॥

व्याख्या—"युक्ति रची मैं कीव" में 'मैं' शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। सबके शरीर में एक ऐसी सत्ता निवास करती है जो रात-दिन कहती है—"मैं खाता हूं, मैं पीता हूं, मैं आता हूं, मैं जाता हूं, मैं यह काम करूंगा, मैं यह काम नहीं करूंगा इत्यादि।" यह 'मैं' शब्द जिस सत्ता से स्फुरित होता है, वह सत्ता ही जीव है।

सद्गुरु बताना चाहते हैं कि 'मैं' कहने वाला जीव ही इस शरीर को युक्तिपूर्वक बनाकर खड़ा करता है। वस्तुतः यह कथन लाक्षणिक है, क्योंकि जीव माता के पेट में जब रज-वीर्य के साथ जाता है, तब वह अचेत अवस्था में रहता है। अचेत जीव सोच-समझकर गर्भावस्था में शरीर बनाये, यह संभव ही नहीं है। एक लोहार या सुनार सावधान होकर युक्तिपूर्वक हथियार या आभूषण बनाता है, वैसे गर्भस्थ जीव शरीर नहीं बना सकता। जीव कर्मवासनाओं के सहित गर्भाशय में पहुंच जाता है और उसकी उपस्थिति मात्र से उसके शरीर की रचना उसके कर्मों के जोर से होती है। सार इतना ही है कि शरीर की रचना में अपने कर्मों के सहित जीव ही मुख्य कारण है। स्थूल कारण माता-पिता हैं यह तो सब जानते हैं, इसलिए उनका उल्लेख यहां नहीं हुआ।

पंडित लोग पोथियों के आधार पर कहते रहते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य को पैदा किया है। ईश्वर माता के गर्भ में जीव के शरीर की रचना करता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि हे पंडितो! मैं तुमसे पूछता हूं कि शब्द बड़ा होता है कि जीव? सारे शब्द जीव ही बोलता है। वेद, शास्त्र, कुरान, बाइबिल, पुराण, धर्मग्रन्थ आदि मनुष्य ही ने रचे हैं। ॐ, ईश्वर, ब्रह्म, राम-रहीम आदि शब्द भी जीव ही बोलता है। जीव न हो तो वर्णात्मक शब्दों का अस्तित्व ही न हो। अतएव पंडितों का यह कथन शब्द मात्र है कि मनुष्य को ईश्वर ने बनाया।

अतएव जीव की ही सत्ता से उसके कर्मानुसार शरीर बनता है और शरीर धारणकर जीव ही नाना शब्दों की रचना करता है। इसलिए हमें चाहिए कि शरीर और शब्द—दोनों कृत्रिम पदार्थों से ऊपर उठकर अपने असली स्वरूप जीव को पहचानें।

पाँच तत्त्व का पूतरा, मानुष धरिया नाँव।
एक कला के बीछुरे, बिकल होत सब ठाँव॥ 23॥

शब्दार्थ—एक कला= परख, सद्‌बुद्धि, स्वरूपज्ञान। बिकल= विकल, अशांत, कष्टित।

भावार्थ—पांच तत्त्व के पुतले इस शरीर को धारण करने से जीव का नाम मनुष्य रखा गया। परन्तु एक सद्‌बुद्धि के बिना यह सब जगह पीड़ित रहता है॥ 23॥

व्याख्या—सद्‌गुरु इस साखी में एक ही बात बताना चाहते हैं जो बहुत सरल होते हुए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वह यह है कि जीव ने मनुष्य का पुतला तो जरूर धारण कर लिया, परन्तु मानवीय-गुण विवेक-बुद्धि उसमें नहीं है। इसलिए वह हर जगह दुखी है।

अधिकतम मनुष्यों के जीवन में केवल दुख देखा जाता है। यही नहीं कि जिनको खाने के लिए नहीं है वे ही दुखी हैं, किन्तु खाते-पीते भी दुखी हैं। इसके मूल में सद्‌बुद्धि का अभाव है।

एक युवक तथा एक युवती परस्पर विवाह के बंधन में जीवनभर के लिए बंध जाते हैं और दंपती कहलाते हैं। एक ही को अर्धांग या अर्धांगिनी कहा जाता है। दोनों को मिलाकर सर्वांग होता है। वे एक-दूसरे को दो-चार महीने तथा साल-दो साल सर्वथा नहीं समझ पाते हैं तो कोई बात नहीं; किन्तु दुख तो यह है कि कितने ही दंपती जीवनभर एक दूसरे को नहीं समझ पाते और सदा एक दूसरे से लड़ते रहते हैं। आप समझ सकते हैं कि पति-पत्नी के सदैव लड़ते रहने से उनकी संतान पर इसका कितना बुरा प्रभाव पड़ता है! कितने ही पति-पत्नी अपने जानकार बच्चों के सामने या उनके प्रकाश में परस्पर रसिक वार्ता एवं श्रृंगारिक हाव-भाव करते हैं। इन सबका बुरा प्रभाव बच्चों के मन में पड़ता है और ऐसे बच्चे आगे चलकर अपने माता-पिता के प्रति श्रद्धालु नहीं रह जाते।

एक ही माता के पेट से पैदा हुए भाई के सामन कौन प्यारा होगा; परन्तु संसार में अधिकतम भाई आगे चलकर एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या-द्वेष, वैर-विरोध में लग जाते हैं। कहते हैं शत्रु से बात करेंगे, किन्तु भाई से नहीं। संसार में कम लोग ऐसे हैं जो अपने पड़ोसियों से प्रेम करते हों; जबकि वे उनसे अपने लिए प्रेम चाहते हैं। मनुष्य, जो असली देवता है, उससे घृणा करता है। फिर जीवन में शांति कहां से आ सकती है! इन सबका कारण है सद्‌बुद्धि का अभाव।

नौकरी छूट न जाये, व्यापार में घाटा न हो जाये, व्यापार बंद न हो जाये, खेती मारी न जाये, प्रिय स्वजनों का वियोग न हो जाये, शरीर रोगी न हो जाये, समाज में

अपमान न हो जाये, इन-जैसे अनेक संशय मनुष्य के मन को रात-दिन चालते रहते हैं। जबकि इनमें से कई बातें तो जीवन में होती ही नहीं हैं, और यदि हो जाती हैं, तो जीवन के लिए दूसरा रास्ता निकल आता है। कई बार पहले से भी अच्छा रास्ता निकल आता है। सबसे बड़ी बेवकूफी तो हमारी यह होती है कि सोचते रहते हैं कि हम मर न जायें, जबकि मरना पक्का है। मर जायेंगे तो क्या बिगड़ जायेगा!

आदमी सद्‌बुद्धि के अभाव में मांस, शराब, गांजा, भांग, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, गुड़ाखू, पान-सुपारी नामालूम क्या-क्या खाने-पीने की आदत बनाकर उनकी आदतों में तथा उनके परिणामस्वरूप रोगों एवं धनाभाव में पीड़ित रहता है।

यह परख ही नहीं है कि मैं कौन हूं! मनुष्य अपने आप चेतन देव को देह, मन, बुद्धि, आदि से पृथक नहीं समझता। इसके परिणाम में भोगबुद्धि रखकर मनुष्य रात-दिन विषय-वासनाओं में लिप्त रहता है। विषयासक्त आदमी इच्छाओं की भट्ठी में निरन्तर जलता है। भोग-क्रियाओं से इच्छाएं बनती हैं और इच्छाओं से भोगों में पुनः प्रवृत्ति होती है। भोगों के बाद पुनः इच्छाओं की ज्वाला धधकती है। भोगों में पड़े हुए मनुष्य का यह घनचक्कर कभी नहीं छूटता। भोगों का त्याग किये बिना इच्छा-ज्वाला कभी बुझ ही नहीं सकती। इच्छा-ज्वाला के बुझे बिना जीव हर जगह बिलबिलाता रहेगा।

जीव का शुद्ध स्वरूप चेतन है, निराधार एवं असंग है, पूर्णकाम तथा पूर्ण संतुष्ट है। परन्तु इस प्रकार अपने स्वरूप का बोध न होने से तथा इस बोध में न स्थित होने से "बिकल होत सब ठाँव" जीव हर जगह हर समय दुखी रहता है।

मानव-जीवन की मौलिकता विवेक में है। विवेक सब दुखों की खानि है। मानव की तकदीर में दुख नहीं लिखा है; किंतु विवेक लिखा है। परन्तु यह विवेक का प्रयोग नहीं करता, इसलिए दुखी रहता है। "एक कला के बीछुरे, बिकल होत सब ठाँव" यही एक कला विवेक है, जिसके अभाव में आदमी हर जगह अशांत है क्या पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवहार में, क्या निर्वाहिक बातों में और क्या आध्यात्मिक दिशा में।

अतएव जिनके पास अच्छी समझ, सद्‌बुद्धि, विवेक एवं परख है, वे ही जीवन में सच्चे अर्थ में सुखी हो सकते हैं। सद्‌गुरु रामरहस साहेब ने कहा है—

फेर परा नहिं अंग में, नहिं इन्द्रीयन के माहिं।
फेर परा कछु बूझ में, सो निरुवारेहु नाहिं॥ पं. मा. दो. 21॥

रंगहि ते रंग ऊपजे, सब रंग देखा एक।
कौन रंग है जीव का, ताका करहु विवेक॥ 24॥

शब्दार्थ—रंग= रंग; लाल, पीला इत्यादि।

भावार्थ—रंगों से ही अन्य रंगों की उत्पत्ति होती है। अन्त में देखा गया, तो सब रंग एक—जड़ है। जीव का रंग कौन-सा है—इसका विवेक करो॥ 24॥

व्याख्या—सफेद चूना और पीली हल्दी मिला देने से लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार अन्य रंगों के सम्मिश्रन से अनेक रंग बनते रहते हैं। परन्तु सभी रंग जड़ हैं। क्योंकि उनके मूल में पृथ्वी आदि जड़ तत्त्व रंगयुक्त हैं। इन्हीं से सब रंगों का विस्तार है। अर्थात मूल पृथ्वी आदि जड़ तत्त्वों के पीलादि रंग होने से, उनसे उत्पन्न वृक्ष, वनस्पति, फल, फूल, पत्ते, धातु आदि विविध पदार्थों में रंग हैं।

जीव का रंग लाल-पीलादि प्राकृतिक नहीं है। विवेक करना चाहिए कि वह क्या है! शब्दादिक पांचों विषयों को जानने के लिए श्रोत्रादिक पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। उनमें श्रोत्र से शब्द जान सकते हैं, नेत्र से नहीं। नेत्र से ही रूप जान सकते हैं, घ्राण से नहीं। इस प्रकार जब अपने विषय को छोड़कर अन्य विषय ही का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता, तो निर्विषय जीव का ज्ञान उनसे कैसे होगा!

अतएव जीव को समझने के लिए विवेक की आवश्यकता है। "मैंने ही नेत्र से रूप देखा, श्रोत्र से शब्द सुना, जिह्वा से रस चखा, घ्राण से गंध सूंघा, त्वचा से स्पर्श किया और मन से स्मरण किया।" यह ज्ञानकर्ता कौन है? वही जीव है, अर्थात मैं ही हूं। मैं सबको जानता हूं, अपने को क्या जानूं! मैं तो हूं ही। मैं न होऊं तो सबको जाने कौन!

जब जानत वह अन्य को, लहि मानन्दि सम्बन्ध।
घूमि लखत तब आपको, मैं जाना व तमन्ध॥

(भवयान, अपना बोध, 49)

अर्थ—मानन्दी (स्मरण) के सहारे, वह अन्य को जब जानता है, तब उससे घूमकर अपने को देखता है कि मैंने ही तो उन जड़-अन्धकारपूर्ण विषयों को जाना है। अतः मैं जनैया ही जीव हूं।

जो नाशै सो जीव न होई। जीव सदा अविनाशी सोई॥
पाँच तत्त्व का जानन हारा। तीनों गुण का करत विचारा॥
वीर्य रक्त तेज तम श्वासा। सबको जानि करत विश्वासा॥
शून्यहि जाने शून्य न होई। जाननहार जीव है सोई॥
जानहि आप जीव कहलाई। सबको जाने सब नहिं होई॥
जो पांचों तत्त्व जानै भाई। सो कहाँ आपु तत्त्व होय जाई॥
तत्त्वहि होय के तत्त्व समावत। सो पुनि तत्त्वहि कौन बतावत॥
जानहिं मात्र जीव है सोई। जान ते अधिक और नहिं कोई॥
पाँच तत्त्व यह जगत सब, जानै सो जीव जान।
कल्पै सोई कल्पना, मानै सो अनुमान॥

(निर्णयसार, दोहा 43)

चेतन-जड़, ज्ञाता-ज्ञेय, द्रष्टा-दृश्य, साक्षी-साक्ष्य दो ही वस्तु संसार में हैं। चेतन,

ज्ञाता, द्रष्टा, साक्षी सब जीव ही के पर्याय हैं।

पारख-स्थिति के साधनाकाल में सभी वासनाओं को त्याग देने पर जो शेष बचा रहता है, वही जीव का स्वरूप है। उसी को पारख कहते हैं। सबका अभाव करने पर, अभाव करने वाला अपने आप चेतन रहा, वही मै हूं।

वेदान्त-ग्रन्थों में भी आता है—'जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः' अर्थात जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं; परन्तु भूल वहीं करते हैं, जब जीव को जड़-चेतनमिश्रित व्यापक अद्वैत कह देते हैं। वास्तव में जीव जड़ से भिन्न और नाना हैं।

जीव का रंग क्या है, इस पर सद्गुरु स्वयं प्रकाश डालते हुए अगली साखी में कहते हैं—

जाग्रत रूपी जीव है, शब्द सोहागा सेत।
जर्द बुन्द जल कूकुही, कहहिं कबीर कोइ देख॥ 25॥

शब्दार्थ—जाग्रत= ज्ञान। रूपी= रूप का, रंग का। सोहागा= सुहागा, एक क्षार-द्रव्य जो सोना गलाने के काम में आता है तथा इसकी दवाई भी बनती है। सेत= शीतल, जड़बुद्धि। जर्द= पीला, रज। बुन्द= वीर्य। जल-कूकुही= जल कुक्कुट, एक जलपक्षी, जल का फेन शरीर।

भावार्थ—जीव ज्ञान रंग का है, परन्तु भ्रांति एवं विषय-वासनापूर्ण शब्दरूपी सुहागा पाकर यह स्वर्णमय चेतन जीव अपने पद से पिघलकर जड़-बुद्धि का हो गया है। अतएव यह कर्म-वासनावश पिता के वीर्य एवं माता के रज में मिलकर जल बुदबुदारूप शरीर को धारण करता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि इस प्रकार कोई बिरला ही समझता है॥ 25॥

व्याख्या—चौबीसवीं साखी में सद्गुरु ने स्वयं प्रश्न उठाया था कि जीव का रंग क्या है! साथ-साथ यह भी बताया था कि उसके लिए विवेक करो। क्योंकि जीव का रंग कोई भौतिक नहीं कि आंख से देखने की वस्तु हो। वह तो विवेक से ही समझा जा सकता है।

इस साखी में सद्गुरु आरम्भ में ही बताते हैं "जाग्रत रूपी जीव है" जाग्रत का अर्थ ज्ञान तथा रूपी का अर्थ रंगवाला है। अर्थात जीव ज्ञान रंग का है। क्या ज्ञान भी कोई रंग है! ज्ञान कोई लाल-पीलादि की तरह रंग नहीं है। तात्पर्य इतना ही है कि जीव केवल ज्ञानस्वरूप है। शुद्धस्वरूप चेतन जीव की मौलिकता ज्ञान में है। जड़-पदार्थों में गुण, धर्म, क्रिया, आकारादि होते हैं। जैसे पृथ्वी का गुण गंध, धर्म (स्वभाव) कठोर, क्रिया सहज, आकार स्थूलतम है। जल का गुण रस, धर्म शीतल, क्रिया अधो, आकार स्थूल है। आग का गुण रूप, धर्म उष्ण, क्रिया ऊर्ध्व तथा आकार सूक्ष्म है। वायु के गुण स्पर्श और शब्द, धर्म कोमल, क्रिया तिरछी तथा आकार

सूक्ष्मतम है।[1] इसी प्रकार यदि जीव के गुण, धर्म, क्रिया तथा आकार पूछा जाये कि क्या हैं, तो यही कहना होगा कि उसका गुण ज्ञान है, धर्म ज्ञान है, क्रिया ज्ञान है तथा आकार ज्ञान है। उसमें ज्ञान के अलावा कोई लक्षण नहीं है। जीव केवल ज्ञान का ठोस स्वरूप है।

सद्गुरु कहते हैं कि ऐसा शुद्ध ज्ञानस्वरूप जीव "शब्द सोहागा सेत" हो गया है। अर्थात शब्दों का सुहागा पाकर और पिघलकर जड़बुद्धि का हो गया है। आप जानते हैं कि सोना में सुहागा डालकर आंच दिखाने से सोना पिघल जाता है। जीव किस तरह पिघल गया है? यहां पिघलने का अर्थ यह नहीं है कि जीव सोना की तरह पिघलकर पतला एवं द्रव हो गया है। यहां का कथन भावनात्मक अर्थ में है। अर्थात जीव का मन पिघल गया है। उसका मन विषय-वासना एवं भ्रांतियों में पड़कर बहने लगा है। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि शब्दों का सुहागा पा गया।

साखी प्रकरण के शुरू में कहा गया है कि जीव के पास मन-शक्ति के साथ शब्द-शक्ति भी प्रबल है। जिससे मन में विषय-वासनाएं बढ़ें तथा नाना भ्रांतियां खड़ी हों, संसार में ऐसे शब्दों की गूंज है। मनुष्य उन्हें सुन-सुनकर अपने पद से पतित होता रहता है। मनुष्य विषय-वासनाओं का अध्यासी तो है ही, वह जो देवी-देवताओं तथा अदृश्य कल्पनाओं की भ्रांतियों में पड़ता रहता है, इसमें मुख्य कारण है कि संसार में सर्वत्र भ्रामक शब्दों का जोर है। उन्हें सुन-सुनकर मनुष्य का मन भ्रमित होता रहता है। विषय-वासनावर्धक एवं भ्रामक शब्दों को सुन-सुनकर मनुष्य के मन में जड़तारूपी बर्फ का गोला जम गया है। वह भ्रामक शब्दों को पाकर 'सेत' हो गया, ठंडा हो गया एवं जड़बुद्धि का हो गया है।

इस जड़ता के कारण ही "जर्द बुन्द जल कूकुही" की दशा में पहुंचता है। यह भ्रमित जीव कर्मवासनावश माता-पिता के रज-वीर्य में मिलकर जलबुदबुदारूप शरीर की रचना करता है। अभिप्राय यह है कि यह अध्यासी जीव जन्म-मरण के प्रवाह में पड़ा रहता है।

"कहहिं कबीर कोइ देख" सद्गुरु कहते हैं कि इस प्रकार सम्यकरूप से जीव को बिरला समझता है। पहली बात है कि जीव शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। उसका मौलिक स्वरूप पूर्ण जाग्रत एवं चैतन्य है। परन्तु वह संसार की विषय-वासनाओं एवं शब्दजाल में पड़कर जड़बुद्धि का हो गया है। संसार में भटकने का कारण यही है।

चौबीसवीं साखी में सद्गुरु ने स्वयं जीव के रंग का प्रश्न उठाया और उस पर विवेक करने की बात कही। इस साखी में उन्होंने जीव को जाग्रतरूप बताया है। इस साखी में पूर्ण जोर जीव की चैतन्यता पर है। सद्गुरु कहना चाहते हैं कि हे मनुष्य जीव! तू पूर्ण जाग्रतस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं चैतन्य है। तेरे स्वरूप में किंचित भी

---

1. आकाश केवल शून्य को कहते हैं। उसमें शून्यता के अलावा कुछ नहीं है।

जड़ता नहीं है। तेरे में जड़ता का केवल बाहर से आरोपण है। तू भ्रामक शब्दों को सुन-सुनकर जड़ बन गया है। तू शब्दों का जाल तोड़ दे और जड़ता-बुद्धि की चादर उतारकर फेंक दे। जैसे तेरा मौलिकस्वरूप जाग्रत एवं चैतन्य है, वैसे तू रहनी में पूर्ण जाग्रत हो जा। "संतो जागत नींद न कीजै। काल न खाय कल्प नहिं ब्यापै, देह जरा नहि छीजै।"[1]

पाँच तत्त्व ले या तन कीन्हा, सो तन ले काहि ले दीन्हा।
कर्महिं के वश जीव कहत हैं, कर्महिं को जिव दीन्हा॥ 26॥

शब्दार्थ—वश= अधीन, बन्धन में।

भावार्थ—पांच तत्त्वों को लेकर इस उत्तम मानव-शरीर की रचना हुई; परन्तु हे जीव! तूने इसे किस कर्म-प्रपंच में झोंक दिया! सभी महापुरुष तथा शास्त्र यही कहते हैं कि जीव कर्मों के बन्धनों में पड़कर ही भटकता है। आश्चर्य होता है कि उन्हीं कर्म-बन्धनों में बंधने का उपदेश पंडितजन पुनः करते हैं॥ 26॥

व्याख्या—माटी, पानी, आग, हवा—इन चार तत्त्वों से शरीर बनता है और पांचवां आकाश तत्त्व शरीर के भीतर स्वयं हो जाता है। द्रव्य माटी, पानी, आग, हवा ही हैं। इसीलिए इन्हीं में क्रिया भी है। आकाश न कोई द्रव्य है और न उसमें क्रिया संभव है। आकाश तो शून्य को कहते हैं। बीजक भर में सद्गुरु ने जहां कहीं जड़तत्त्वों के नाम लिये हैं वहां पांच कहे हैं।

कुछ लोग नयी खोज की बात सुनकर बहुत हायतोबा करने लगते हैं। अपने आप को परम्परावादी सिद्ध करने वाले लोग जब सुनते हैं "आकाश कोई द्रव्य नहीं है, वह शून्य है; इसलिए उसमें क्रिया नहीं, कोई गुण-धर्म नहीं।" तब वे जमीन को सर पर उठा लेते हैं। वे ऐसा कहने वालों को नास्तिक कहना शुरू करते हैं। चूंकि नास्तिक दुर्बल सिद्धान्त वालों की भाषा है। उन शूर-वीरों ने दूसरों को गाली देने के लिए 'नास्तिक' शब्द का चुनाव कर रखा है। जिनसे उनका किसी बात में विमत होता है, वे उनके ऊपर झट से 'नास्तिक' की मोहर मार देते हैं। परन्तु उन भोलों को यह पता नहीं है कि उनसे भिन्न मत रखने वाले अनेक मतावलंबियों के ख्याल से वे भी स्वयं नास्तिक हैं।

जो नयी खोज का तिरस्कार करता है, वह अपने अनजाने में कबीर साहेब का ही तिरस्कार करता है। कबीर साहेब के कई विचार उनकी खोज हैं। जो नयी खोज में निष्ठा रखता है, वह अपने अनुयायियों की नयी खोज न पसन्द करे, यह कैसे हो सकता है!

अपने आप को परम्परावादी कहलाने वाले लोग भी यह कहते हैं कि आकाश में क्रिया नहीं है। बुद्धि का थोड़ा भी प्रयोग करने से सहज समझा जा सकता है कि कोई

---

1. बीजक, शब्द 2।

भी जड़ द्रव्य बिना क्रिया के नहीं रह सकता है। जब आकाश द्रव्य है, तब उसमें क्रिया क्यों नहीं? और जब आकाश में क्रिया नहीं, तब वह द्रव्य कैसे है? जब आकाश द्रव्य नहीं और उसमें कोई क्रिया नहीं तब उसमें किसी प्रकार के गुण-धर्म कैसे सिद्ध होंगे?

परम्परावादी होने का स्वाभिमान रखने वाले लोग कहते हैं कि शास्त्रों में शब्द-गुण आकाश का बताया गया है। इसके उत्तर में प्रसिद्ध विद्वान डॉ. सम्पूर्णानन्द लिखते हैं—

"शब्द का अर्थ स्वन—उस प्रकार का संवित्, जो दो क्षैत वस्तुओं के टकराने पर होता है—माना जाता है और श्रवणेन्द्रिय उसका ग्राहक मानी जाती है। यह बात ठीक है, परन्तु स्वन का क्षेत्र तो बहुत संकुचित है। वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध है कि यदि किसी प्रकार के आघात के कारण कोई वस्तु प्रकम्पित हो उठे और उसके चारों ओर कोई ऐसा ठोस या तरल माध्यम हो जो हमारे कान तक पहुंचता हो तो उस माध्यम में एक प्रकार की लहर उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप हमको स्वन-संवित् होता है। हमारे नाड़ि-संस्थान की बनावट ऐसी है कि यदि वस्तु का कंपन लगभग सोलह बार प्रति सेकेंड से कम या लगभग पचास हजार प्रति सेकेंड से अधिक हो तो स्वन नहीं सुन पड़ता। जहां कोई ठोस या तरल माध्यम नहीं है, वहां कंपन भले ही हो परन्तु स्वन नहीं आ सकता। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि से हमको प्रकाश मिलता है, स्वन नहीं। **किन्तु पोथियों के आधार पर पंडित-संप्रदाय शब्द का संबंध आकाश से जोड़ता है जो सर्वथा अवैज्ञानिक जान पड़ता है**"[1]

सद्गुरु ने भी जहां कहीं जड़तत्त्वों के नाम लिये हैं निश्चित ही पांच कहे हैं। परन्तु उन्होंने जहां तत्त्वों की क्रिया बतायी है, वहां चार तत्त्वों का वर्णन किया है; इसे हम 78वीं रमैनी में पढ़ सकते हैं।[2]

गीताकार लिखते हैं "इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी गीला कर सकता है और न वायु इसे सुखा सकता है।"[3] शस्त्र पृथ्वी तत्त्व से बना है और अन्य अग्नि, जल तथा वायु के नाम लेकर गीताकार कहते हैं कि ये चारों तत्त्व जीवात्मा पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते; क्योंकि वह अजर-अमर है। आकाश कोई द्रव्य न होने से न उसमें क्रिया है और न उसका किसी पर कुछ प्रभाव पड़ता है। इसलिए उसका यहां नाम ही नहीं लिया गया। स्वामी चिद्भावानंद जी गीता

---

1. चिद्विलास, आदि शब्दाधिकरण।
2. अगिन कहै मैं ई तन जारों। पानि कहै मैं जरत उबारों॥
   धरती कहै मोहि मिलि जाई। पवन कहै संग लेउँ उड़ाई॥
3. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
   न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ गीता, 2/23॥

पर लिखित अपनी इंगलिश टीका में प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में लिखते हैं—

"पांच तत्त्वों में एक तत्त्व आकाश क्रियाहीन है। इसलिए उसका वर्णन यहां नहीं किया गया। दूसरे चार तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु की क्रियाएं आत्मा पर प्रभाव नहीं डाल सकतीं। अस्त्र द्रव्य से बना हुआ होता है जो पृथ्वी है। आत्मा की अखंड सत्ता है, शस्त्र उसकी क्षति नहीं कर सकता।"[1]

सद्गुरु कहते हैं "पांच तत्त्व ले या तन कीन्हा, सो तन ले काहि ले दीन्हा।" पांच तत्त्वों को लेकर तूने कर्मों के बल से इस उत्तम मानव-शरीर की रचना की जिससे तू मोक्ष-साधना कर सकता है; परंतु तू इसे लेकर कहां दे दिया? इस मोक्ष-साधन-शरीर को तू किस कर्म-प्रपंच में लगा रहा है? जिस मानव-शरीर से बंधन काटने का काम करना चाहिए, उससे बंधन बना रहा है।

"कर्महिं के वश जीव कहत हैं, कर्महि को जिव दीन्हा।" सभी संप्रदाय के साधक, पंडित तथा पुरोहित यही कहते हैं कि जीव कर्म के वश जगन्नगर में नाच रहा है। परंतु इतना कहते-समझते हुए भी वे उसे प्रत्यक्ष इंद्रिय-भोग तथा परोक्ष मनःकल्पना के जाल में रखने वाले कर्म-प्रपंच का ही उपदेश देते हैं। वे उसे कर्मों के आयाम से ऊपर उठकर अपरोक्ष अविचल स्वरूपस्थिति का उपदेश नहीं देते जहां सर्व दुखों का सर्वदा के लिए अंत है। इसमें मूलकारण है उपदेष्टाओं का स्वरूप-अबोध। 'जो जाको मर्म न जाने, सो ताको काह कराय।'

पाँच तत्त्व के भीतरे, गुप्त बस्तु अस्थान।
बिरला मर्म कोई पाइहैं, गुरु के शब्द प्रमान॥ 27॥

शब्दार्थ—गुप्त वस्तु= अदृश्य चेतन जीव। मर्म= रहस्य, भेद।

भावार्थ—पांच तत्त्वों से बने इस शरीर के भीतर-स्थान में एक अदृश्य ज्ञानस्वरूप चेतन जीव निवास करता है। परन्तु सद्गुरु के निर्णय वचनों के प्रमाणों से कोई बिरला उसका भेद ठीक से जान सकता है॥ 27॥

व्याख्या—सामान्य लोग यही समझते हैं कि यह जड़ तत्त्वों से निर्मित शरीर ही सब कुछ है। परन्तु विचार करने पर साधारण आदमी भी इस बात को समझ सकता है कि इस जड़काया को चलाने वाला इससे भिन्न चेतन जीव है जो इस शरीर में रहकर इसे उसी प्रकार चलाता है जैसे गाड़ी में बैठकर गाड़ी का चालक गाड़ी को चलाता है। यद्यपि वह आंख से नहीं दिखता, तथापि वह अखण्ड ज्ञानस्वरूप पदार्थ है। जैसे वायु पदार्थ होते हुए भी आंखों से नहीं दिखता, वैसे जीव स्वतंत्र पदार्थ होते हुए भी नहीं दिखता। जैसे त्वचा में लगने से और वृक्षादि हिलने से वायु का ज्ञान होता है,

---

1. Among the five elements Akash is one that is actionless. So no reference to it is made here. The actions of the other four elements do not affect the Ataman. Weapons are made of the stuff which the earth is. Ataman being indivisible, weapons cannot hurt it.

(Shri Ramkrishna Tapovanam. Tirupparaitturai)

वैसे देहों में सुख-दुख का ज्ञान करने वाला होने से जीव का ज्ञान होता है। उसके निकल जाने पर शरीर में कोई ज्ञान नहीं होता। शरीर नाशवान है, चेतन जीव अविनाशी है। यह प्रत्यक्ष विवेक का विषय है। इस तत्त्वज्ञान का समस्त भारतीय वाङमय समर्थन करता है। इसलाम भी इस बात पर हस्ताक्षर करता है। प्राचीन दार्शनिक जनाब गज़ाली लिखते हैं—"शरीर तेरे अपने लक्षणों (स्वरूपों) में नहीं है; इसलिए इसका नष्ट होना तेरा अपना नष्ट होना नहीं है।"[1]

मिट्टी, पानी, आग, हवादि कहें या ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि कहें जो कुछ कारण तथा कार्य पदार्थों के रूप में जड़ तत्त्व फैले हैं, सब केवल जड़ हैं। परन्तु हर आदमी यह अनुभव कर सकता है कि मैं जड़ नहीं, चेतन हूं। अपने आप का अनुभव सब समय सबको होता है। 'मैं हूं' यह सबको पता है। परन्तु बिना सद्गुरु के उपदेश के इसका ठीक से बोध सहजतया नहीं होता। कैसा आश्चर्य है! जानते हुए जीव अनजान बना रहता है। स्वयं होते हुए स्वयं का ज्ञान तत्त्वतः नहीं रहता।

इसलिए सत्य इच्छुक को चाहिए कि वह किसी बोधवान सद्गुरु के पास जाकर विनम्रतापूर्वक सेवा करते हुए उनके सत्संग द्वारा स्वरूप के रहस्य को समझने की चेष्टा करे। सब कुछ जाना, किन्तु अपने को नहीं जाना, सब कुछ पाया, किन्तु अपने आप को नहीं पाया तो उसका सब जानना और पाना निरर्थक है। स्वरूपज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है तथा स्वरूपस्थिति सर्वोच्च उपलब्धि है।

असुन्न तखत अड़ि आसना, पिण्ड झरोखे नूर।
जाके दिल में हौं बसा, सैना लिये हजूर॥ 28॥

शब्दार्थ—असुन्न=शून्य-रहित, सत्य पदार्थ, चेतन। तखत=सिंहासन, पद। अड़ि=अडिग। पिण्ड=शरीर। झरोखे=इन्द्रियां। नूर=प्रकाश, चैतन्यता। हौं=मैं, चेतन। सैना=ज्ञान-प्रकाशरूप फौज। हजूर=हुजूर, सामने आना, उपस्थिति।

भावार्थ—हे जीव! जिसने शरीर के इन्द्रिय-झरोखों से अपना ज्ञान-प्रकाश फैला रखा है, वह सत्य चेतनस्वरूप ही तुम्हारी अविचल स्थिति-दशा है। ज्ञान-प्रकाश की सेना लेकर 'मैं' के रूप में सभी दिलों में वही उपस्थित है॥ 28॥

व्याख्या—असुन्न का अर्थ ही है जो शून्य न हो, जो सत्य हो, पदार्थ हो, गुण-धर्मयुत सत्तावान हो। तखत तख्त है जिसका अर्थ सिंहासन होता है। अड़ि आसना का अर्थ है अडिग आसन, अविचल निवास। इस प्रकार अर्थ हुआ कि जीव की अविचल स्थिति सत्य पदार्थ में है। वह चेतन है। उसी चेतन का प्रकाश इन्द्रिय-झरोखों से बाहर फैल रहा है। वही आंखों से देखता है, कानों से सुनता है, नाक से सूंघता है, जीभ से चखता है, त्वचा से छूता है और मन से सोचता है। जैसे किसी मकान में

---

1. व लैस' ल्-बद्नो मिन् क़वामे जातेका।
फ इन्हदाम' ल्-बद्ने ला यअ्दमो-का॥ राहुल कृत दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ 171॥

प्रकाश जलता है, तो मकान के झरोखों से प्रकाश की किरणें बाहर भी फैलती हैं, वैसे इस शरीर में चेतन निवास करता है, तो उसका ज्ञान-प्रकाश इन्द्रिय-झरोखों द्वारा बाहर भी फैलता है।

"जाके दिल में हौं बसा" यहां जाके दिल से तात्पर्य सभी दिलों से है। अर्थात जीव सभी के भीतर हौं के रूप में, मैं के रूप में बसता है। जितने मैं-तू कहने वाले या अपनी चेतना का संकेत करने वाले हैं, वे ही चेतन जीव हैं। वही मैं हूं, वही आप हैं। सब चेतन जीवों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न होते हुए भी, सबके स्वरूप एक समान ज्ञानरूप हैं। यह चेतन ही सर्वोपरि है। यह चेतन जब तक शरीर में रहता है, तब तक इन्द्रियां अपना-अपना काम करती हैं। उसके निकल जाने पर सब सूना हो जाता है।

जीव का अपना चेतनस्वरूप ही अपना निधान है, आश्रयस्थल, विश्रामस्थल तथा स्थितिस्थल है। जैसे बाहर गया हुआ थका-मांदा आदमी लौटकर अपने घर में विश्राम पाता है, वैसे संसार से थका जीव अपने चेतनस्वरूप में स्थित होकर ही विश्राम पाता है। अतएव हमें चाहिए कि हम अपने स्वरूप में अविचल भाव से स्थित हों। यही जीवन का चरमोत्कर्ष है।

हृदया भीतर आरसी, मुख देखा नहिं जाय।
मुख तो तबहीं देखिहो, जब दिल की दुबिधा जाय॥ 29॥

शब्दार्थ—आरसी= आइना, दर्पण, विवेक। दुबिधा= द्विधा, दो भागों में बंटे रहना, संशय।

भावार्थ—हर मनुष्य के हृदय में विवेक का दर्पण है, परन्तु वह उसमें अपना वास्तविक चेहरा नहीं देख पाता। वह अपने आपा को उसमें तभी देखेगा जब उसके मन का दो-तरफापन मिट जायेगा॥ 29॥

व्याख्या—मनुष्य की मुख्य शक्ति है उसका विवेक। हर मनुष्य के दिल में विवेक-दर्पण विद्यमान है। जैसे दर्पण में मनुष्य अपना चेहरा देखता है, वैसे हर मनुष्य विवेक-बल से अपने स्वरूप को ठीक से समझ सकता है। प्रश्न होता है कि हर मनुष्य को आत्मज्ञान क्यों नहीं हो जाता! कारण है कि इधर वह ध्यान नहीं देता। दूसरी बात है कि उसके दिल में अनेक भ्रांतियां, विषयासक्ति एवं देहाभिमान का आवरण है। अच्छे दर्पण में भी मैल जम जाने से उसमें मुख नहीं दिखता। प्राप्त शक्ति का कोई सदुपयोग न करे तो उससे लाभ नहीं मिल सकता। घर में गड़े धन को कोई निकालकर उसका उपयोग न करे तो वह कंगाल सरीखा ही बना रहेगा। देहाभिमान और विषयासक्ति के कारण हर आदमी अपने आप की वास्तविकता से बेभान रहता है। जो लोग बहुत-कुछ शुद्ध चित्त के होते हैं, उनमें भी अधिकतर लोग भ्रांति में जीते हैं।

मन का दुविधा में होना किसी भी दिशा में सफलता का बहुत बड़ा अवरोध है। दुविधा का अर्थ है दो-विधा, अर्थात एक बात में दो विरोधी दिशाओं में सोचना।

विरोधी धारा के चिंतन में पड़ा मनुष्य अपने स्वरूप को नहीं पहचान सकता।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि बाहर हमारा कुछ नहीं है। बाहर तो केवल जड़-दृश्य है। मेरी अपनी चेतना ही मेरा आश्रयस्थल है। मनुष्य की अपनी आत्मा के अलावा देवी-देवता तथा ईश्वर-परमात्मा केवल शब्द हैं। देवता का देवता, ईश्वर का ईश्वर तथा परमात्मा का परमात्मा व्यक्ति की अपनी आत्मा है। ईश्वर तथा परमात्मा के दर्शन केवल शब्दजाल हैं। दर्शन तो जड़दृश्य के होते हैं। अपना स्वरूप तो द्रष्टा है। अतएव साधक को चाहिए कि वह सारे दर्शनों का मोह छोड़कर विवेक द्वारा अपने आप को समझे तथा अपने आप में स्थित हो।

आंख सबको देखती है, परन्तु अपने आप को नहीं देखती। किन्तु रूप का ज्ञान होने से यह सिद्ध हो जाता है कि हमारी आंखें हैं। बिना आंखों के रूप दिखेगा ही नहीं। इसी प्रकार चेतन सबको जानता है, परन्तु आपने आप को ठीक से नहीं जानता। किन्तु सबको जानते रहने से उसका अपना रहना सिद्ध हो जाता है। यदि वह न हो तो सबको जाने कौन! इस तथ्य को हृदयंगम करने के लिए हृदय-दर्पण को मांजते रहना चाहिए।

जब दर्शन को दिल चहिए, तब दर्पण माँजत रहिए।
जब दर्पण लागी काई, तब दर्श कहां से पाई॥

श्री निर्मल साहेब कहते हैं—

आदर्श मति में मैल से भरा है। निजरूप तिनको नहीं दिख पड़ा है॥
यदि तुम कहो जीव कैसा कहां है? नहीं देख पड़ता स्वयं कह रहा है॥
अपना नयन देखना जो तू चाहै। आदर्श निर्मल में करले निगाहै॥
बुद्धी निर्मल स्वच्छ अपनी बनाओ। अपने स्वतः रूप को देख पाओ॥

(न्यायनामा)

सद्गुरु विशाल साहेब कहते हैं—

संस्कार ह्वै शुद्ध जब, हटै दृश्य से भाव।
सत्य शोध तब जीव करि, प्रिये धर्म गुरु राव॥
अंतस थिर ज्वाला रहित, अभय न चिंता जब्ब।
फिक्र रहित मन निरस जहँ, शोध यथारथ तब्ब॥

(मुक्तिद्वार, स्वतन्त्र जीव शतक 70, 72)

स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति की उच्चता

गाँव ऊँचे पहाड़ पर, औ मोटा की बाँह।

कबीर अस ठाकुर सेइये, उबरिये जाकी छाँह॥ 30॥

शब्दार्थ—गाँव= स्थिति। मोटा= श्रेष्ठ, बड़ा। ठाकुर= स्वामी, संत, सद्गुरु। छाँह= छाया, आश्रय।

भावार्थ—जीव की स्थिति उच्च चैतन्य शिखर पर है। हे मनुष्य! तुम उन श्रेष्ठ संत एवं सद्गुरु का सहारा लो और उनकी सेवा करो जिनकी शरण से तुम्हारा संसार-सागर से उद्धार हो॥ 30॥

व्याख्या—अपना गांव यदि ऊंचे पहाड़ पर हो तो कितना ही बाढ़-बूड़ा आवे कोई परवाह नहीं है। जीव का गांव, जीव की स्थिति-दशा उच्च चैतन्य-शिखर पर है। जो अपने चैतन्य-शिखर पर स्थित हो जाता है उसे संसारी-चिंताएं छू नहीं सकतीं। जैसे उच्च पर्वत पर चढ़ा हुआ आदमी जब वहां से जमीन की तरफ देखता है तब उसे गांव बच्चों के खिलौने सरीखे तथा मनुष्य कीड़ों के रेंगने जैसे लगते हैं, उसी प्रकार जो अपने चेतनस्वरूप में स्थित हो जाता है उसे सारा संसार बौना लगता है। उसकी दृष्टि में धन, परिवार, समाज, मान-बड़ाई, प्रभुता आदि बहुत तुच्छ लगते हैं। स्वरूपस्थिति की गरिमा ऐसी है कि उसको पा जाने के बाद सब कुछ फीका हो जाता है।

प्रश्न होता है कि ऐसी उच्च स्थिति कैसे मिलेगी? स्वयं परिश्रम तो करना ही पड़ेगा, परन्तु इसके लिए सच्चे सद्गुरु एवं संतों का आधार अति आवश्यक है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि 'मोटा की बांह' पकड़ो। मोटा, गुजराती में बड़े को कहते हैं। अर्थ है जो उस उच्च स्थिति को प्राप्त है उसकी शरण लो, उसकी सेवा करो। ठाकुर बंगला भाषा में संत एवं सद्गुरु को कहते हैं। समन्वयवादी एवं बहुश्रुत कबीर इस साखी की पहली पंक्ति में 'मोटा' गुजराती भाषा से लेते हैं तथा दूसरी पंक्ति में 'ठाकुर' बंगला भाषा से। वे कहते हैं कि जो ज्ञान, आचरण तथा रहनीसंपन्न संत-सद्गुरु हैं उनकी शरण लेकर, उनकी सेवा कर और उनके आश्रय में रहकर तुम साधना करोगे तो विषयों के कीचड़ से उठकर स्वरूपस्थिति की उच्च चोटी पर पहुंच जाओगे।

वकीलों की संगत से वकालत, डॉक्टरों की संगत से डॉक्टरी तथा विद्वानों की संगत से विद्वता आती है, इसी प्रकार विवेक-वैराग्यसंपन्न संत एवं सद्गुरु की संगत से ही स्वरूपस्थिति की उच्च चोटी पर चढ़ा जा सकता है। ऊंचे काम के लिए सामने ऊंचे आदर्श का बल चाहिए।

जेहि मारग गये पण्डिता, तेई गई बहीर।
ऊँची घाटी राम की, तेहि चढ़ि रहै कबीर॥ 31॥
ये कबीर तैं उतरि रहु, तेरो सम्मल परोहन साथ।
सम्मल घटे न पगु थके, जीव बिराने हाथ॥ 32॥

शब्दार्थ—पंडित= पुरोहित। बहीर= भीड़। घाटी= दो पर्वतों के बीच की ढलान

की जमीन, तात्पर्य में ऊंची जगह। सम्मल= शंबल, यात्रा के लिए भोज्य पदार्थ, पाथेय। परोहन= घोड़ा, गाड़ी आदि सवारी या बोझा ढोने वाले पशु।

भावार्थ—जिस रास्ते से पुरोहित एवं पंडित लोग जाते हैं, उसी रास्ते से भीड़ भी जाती है, किन्तु कबीर तो सबसे अलग एवं स्वतंत्र होकर स्वरूपस्थिति रूपी राम की ऊंची घाटी पर चढ़ जाता है॥ 31॥ परन्तु हे कबीर, संसार के जीव अविवेकवश दूसरों के हाथों में पड़े हुए भटक रहे हैं। अतएव तुम उनके उद्धार के लिए राम की ऊंची घाटी एवं समाधि-सुख छोड़कर लोगों के बीच में उतर आओ। क्योंकि तुम्हारे पास विवेकज्ञान का शंबल है, पाथेय है और स्वावलंबन तथा स्व-श्रम का परोहन है। वे तुम्हारे पास से घटने वाले नहीं हैं। अतएव ऐसा करने से तुम्हारा कुछ बिगड़ेगा नहीं, किन्तु भूले जीवों का उद्धार होगा॥ 32॥

व्याख्या—पंडितों एवं पुरोहितों ने रोचक-भयानक शब्दों के ऐसे जाल बिछा रखे हैं कि आम जनता उनमें फंस-सी गयी है। इसलिए जिधर पंडित तथा पुरोहित चलते हैं उधर ही भीड़ के लोग भी चलते हैं। पंडित और भीड़ ये दोनों शब्दों का चयन अद्‌भुत है। पंडित का अर्थ केवल ब्राह्मण नामधारी पुरोहित नहीं होता, किन्तु संसार के नाना मतों में जो भी पुरोहित हैं वे कर्मकांड के जाल में अपने आस-पास के समाज को फंसाते हैं। हिन्दुओं में पुरोहितों के ही समान ईसाइयों के पोप-पादरी, मुसलमानों के मुल्ला तथा अन्य अनेक मतों के पुरोहितों ने ऐसा जाल बुन रखा है कि उसमें से मनुष्यों का निकलना कठिन हो गया है।

हर समूह एवं परंपरा में पुरोहितों की कुछ आवश्यकता है। जन्म, विवाह एवं मृत्यु-संस्कार कराने के लिए पुरोहितों का काम लगता है। इन तीनों में विवाह-संस्कार मुख्य है, क्योंकि इसमें वर तथा कन्या के मन को एक दूसरे से बांधने के लिए कुछ संस्कार डालने की आवश्यकता पड़ती है। शेष जन्म-संस्कार तथा मृत्यु-संस्कार तो केवल औपचारिक हैं। पैदा हुआ शिशु, कुछ नहीं जानता कि तुम उसके लिए कौन-से मन्त्र पढ़ रहे हो और क्या कर रहे हो। मर चुके हुए मनुष्य के लिए तो कुछ भी करना व्यर्थ है। हां, शोकित परिवार के लिए ज्ञान के ग्रन्थों का पाठ तथा ज्ञानचर्चा कल्याणकारी है।

परन्तु इन संस्कारों में पुरोहितों ने बहुत बड़ा जाल रच रखा है और इससे हटकर अन्य क्रियाओं में भी समाज को उलझा दिया है। देवी-देवता, भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन, ग्रह-लग्न, मुहूर्त आदि के नाना भय देकर सबको अपनी मुट्ठी में पकड़ रखा है। ईश्वर और मोक्ष भी अपनी आत्मा से अलग बताकर उसके लिए लोगों को नाना कर्म-उपासनाओं में दौड़ा रखा है। इन नाना मत के पुरोहितों के पीछे ही भीड़ चलती है। भीड़ का अर्थ ही है भोले-भाले लोगों का समूह। कबीर साहेब ने यहां जानबूझकर भीड़ अर्थ वाला बहीर शब्द का प्रयोग किया है।

कबीर साहेब कहते हैं कि मैं न पंडित एवं पुरोहितों के पीछे चल सकता हूं और

न भीड़ के साथ। मेरा रास्ता इन सबसे अलग है। यह तो राम की ऊंची घाटी है। यही मेरा रास्ता है। घाटी दो पर्वतों के बीच दर्रे को कहते हैं जहां पहाड़ों की ढाल हो। दो पहाड़ों के बीच की नीची एवं समतल जमीन घाटी कहलाती है। परन्तु इस घाटी के साथ ऊंची विशेषण लगाकर सद्गुरु ने इसे सामान्य रास्ते से श्रेष्ठ होने की व्यंजना की है। यहां घाटी का अर्थ पर्वत के पास नीची जमीन का शाब्दिक अर्थ न लेकर व्यंजना अर्थ लेना चाहिए। सद्गुरु कहते हैं "ऊंची घाट राम की"। घाटी के साथ ऊंची विशेषण लगाकर राम के ऊंचे रास्ते की व्यंजना है। राम का रास्ता ऊंचा है। उस रास्ते पर चलने वाले के लिए पुरोहितों के जंजाल से छुटकारा है। राम की ऊंची घाटी है स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति। यह जीव, यह आत्मा ही राम है और उसमें स्थित हो जाना ही राम की ऊंची घाटी में पहुंच जाना है। सहज-समाधि ही ऊंची घाटी है।

अगली 32वीं साखी में सद्गुरु ने स्वयं को संबोधित करके कहा है—हे कबीर! तुम देखो इस संसार को। संसार के लोग नाना पुरोहितों द्वारा धर्म के नाम पर दीन बना दिये गये हैं। संसार के लोग चाहे वे अपढ़ हों या पढ़े-लिखे; भेड़ की भीड़ बन गये हैं और उन्हें पुरोहित लोग रोचक-भयानक कथन के डंडे से हांक रहे हैं। समझदारों का समूह समाज कहलाता है और पशुओं तथा मूर्खों का समूह समज। संसार में समाज कम दिखता है समज ज्यादा। यह समज ही भीड़ है। संसार के लोग भीड़ बन गये हैं। अतएव तुम राम की घाटी से, समाधि के सुख से उतरकर संसार के बीच में आ जाओ और इस भीड़ का उद्धार करो। इस भीड़ को बताओ कि तुम भीड़ मत बनो। इस प्रवृत्ति में तुम्हारी कोई हानि न होगी; क्योंकि तुम्हारे पास शंबल और परोहन है। तुम विवेक-बल तथा पुरुषार्थ-परिश्रम से युक्त हो। जीवनभर तुम्हारा शंबल घटने वाला नहीं है और न तुम्हारे श्रम के पैर थकने वाले हैं। तुम केवल समाधिलीन होकर न बैठो, किन्तु जन-कल्याण करते हुए सदैव सहज-समाधि में रहने का विचार रखो।

यहां समाधि में लीन होने का खण्डन नहीं है, किन्तु संसार पर अधिक करुणा का प्रकाश है। सद्गुरु ने बीजकभर में ध्यान, समाधि तथा स्वरूपस्थिति की लीनता पर अत्यन्त प्रकाश डाला है। साधक को स्वरूपस्थिति का काम पहले करना चाहिए, धर्म प्रचार पीछे।

कबीर का घर शिखर पर, जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न टिके पपीलका, तहाँ खलकन लादै बैल॥ 33॥

शब्दार्थ—शिखर= सर्वोच्च चेतन तत्त्व। सिलहली= रपटीला, फिसलनयुक्त। पपीलका= पिपीलका, चींटी। खलकन= संसारी लोग।

भावार्थ—जीव की शाश्वत स्थिति उसके अपने सर्वोच्च स्वस्वरूप चेतन में है। उस तक पहुंचने का रास्ता फिसलन से भरा है। जहां चींटी के पैर नहीं टिकते, वहां संसार के लोग बैल पर सामान लादकर व्यापार करना चाहते हैं॥ 33॥

व्याख्या—यहां कबीर का अर्थ केवल ग्रन्थकार कबीर साहेब नहीं है, किन्तु

जीववाची है। सद्गुरु कहते हैं कि जीव की अपनी नित्य स्थिति उसके अपने चेतनस्वरूप में है। जीव का अपना चेतनस्वरूप ही तो सर्वोच्च है। सारी वासनाओं को छोड़कर अपनी चेतना में ही सदैव स्थित रहना जीवन का सर्वोच्च शिखर है। इस स्थिति में जो पहुंच जाता है, वह सदैव के लिए कृतकृत्य हो जाता है।

परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि इसका रास्ता रपटीला है, फिसलन से भरा है। पहली बात तो यह है कि लोग नाना मान्यताओं, कल्पनाओं एवं भ्रांतियों में पड़े हैं, वे उन्हें छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। वे परमात्मा और मोक्ष को भी अपने से अलग ही देखते रहते हैं। अतएव स्वस्वरूप का सच्चा बोध होना ही दुर्लभ हो जाता है। दूसरी बात है विषय-वासनाओं का त्याग। अच्छी संगत और दृढ़ पुरुषार्थ के बिना मन एकदम निर्विषय नहीं होता। साधना में निरंतरता और सावधानी की महती आवश्यकता है। वस्तुतः सावधानी ही साधना है। थोड़ा-सा असावधान हुए कि विषयों का चिंतन आ सकता है और विषयों का चिंतन करने वाला मन स्व-स्वरूप चेतन में नहीं स्थित हो सकता। अतएव स्वरूपस्थिति का मार्ग फिसलन से भरा है। परन्तु इन बातों को पढ़-सुनकर घबराने की बात नहीं है। खतरों को न बताया जाये तो सावधानी आयेगी कैसे!

वस्तुतः स्वरूपस्थिति का रास्ता स्वच्छ है। उसमें फिसलन तो है ही नहीं। फिसलन तो विषय-वासनाओं का रास्ता है। जिसने मन, वाणी तथा कर्मों से विषय-वासनाओं का त्याग कर दिया, उसके जीवन में स्वरूपस्थिति का मधु है, अमृत है। यदि व्यक्ति ठीक से समझकर विषयों से सावधान हो जाये और स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति के मार्ग पर चलने लगे, तो कृतार्थ हो जाये। राजा होकर कोई घूर पर तथा कचड़े में दाने क्यों बीनेगा! स्वरूपस्थिति का साम्राज्य पाकर विषयों के कीचड़ की ओर नजर भी क्यों उठायेगा! जिसको निर्विषय स्वरूपस्थिति का सिंहासन मिल गया, वह आनन्दकन्द हो जाता है।

"पाँव न टिके पपीलका, तहाँ खलकन लादै बैल।" संसार के लोग समझदार नहीं हैं। जिस रास्ते में चींटी के पैर न जमते हों, वहां बैल ले जाकर व्यापार करने की बात ही नहीं सोची जा सकती। अभिप्राय यह है कि स्वरूपस्थिति एवं मुक्ति होती है सारे विषयों का त्याग करके, परन्तु उसे प्राप्त करने के लिए लोग नदी-स्नान, मूर्ति-दर्शन, व्रत-उपवास, हवन-तर्पण, नामसंकीर्तन आदि करते हैं। यह ठीक है कि ये सब साधारण मनुष्यों के लिए सात्त्विक उत्साह उत्पन्न करते हैं। परन्तु इतने ही में रुक जाना अविवेक है। अलग से मोक्ष पाने का भ्रम तथा ईश्वर-दर्शन की सनक, यह वहां बैल पर सामान लादकर व्यापार करने-जैसी ही बात है जहां चींटी के पैर न टिकते हों। मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो कहीं बाहर से मिले। ईश्वर कुछ ऐसा नहीं जिसके दर्शन होते हों। दर्शन रूप विषय के होते हैं जो जड़ माया है। वस्तुतः सब वासनाओं को छोड़कर चेतन का अपने आप शांत हो जाना ही मोक्ष है, यही ईश्वर की प्राप्ति है

या और कुछ कहना चाहो इसे कह लो। इसके अलावा परमार्थ की कोई परिनिष्ठित परिभाषा नहीं है।

बिन देखे वह देश की, बात कहै सो कूर।
आपुहि खारी खात है, बेंचत फिरै कपूर॥ 34॥

शब्दार्थ—वह देश= मोक्ष, स्वरूपस्थिति। कूर= कायर, मूर्ख। खारी= नमक, विषय भोग। कपूर= दारचीनी की जाति के पेड़ों से निकला हुआ एक सुगन्धित सफेद द्रव्य, तात्पर्य में श्रेष्ठ ज्ञान।

भावार्थ—जीवन्मुक्ति एवं स्वरूपस्थिति का अनुभव किये बिना जो उसका अधिकारपूर्वक व्याख्यान करते हैं, वे कायर एवं मूर्ख हैं। वे स्वयं तो विषय-भोगरूपी नमक खाते हैं और दूसरे को श्रेष्ठ ज्ञानरूपी कपूर बांटते फिरते हैं॥ 34॥

व्याख्या—ज्योति-दर्शन, अमृतवल्लरी-पान, प्राणायाम, आसन, मुद्रा, अनाहतनाद-शब्द-श्रवण आदि करके हठयोगी लोग इन्द्रियजन्य विषयों एवं जड़भावों के भीतर ही अपना अनुभव रखते हैं। दूसरी तरफ शास्त्र-ज्ञानी एवं वाचिक-ज्ञानी लोग भी विषय-वासनाओं एवं राग-द्वेष में ही रात-दिन उलझे रहते हैं, परन्तु ये लोग अपने व्याख्यान में जीवन्मुक्तिस्थिति, मोक्ष एवं परमपद की बात निचोड़कर कह देते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि यह सब कायरता एवं मूर्खता के लक्षण हैं। स्वयं उस तत्त्व को ठीक से समझो और साधना द्वारा उस दशा में स्थित होओ, तब उसे साधिकार दूसरों के सामने कहने के अधिकारी बन सकते हो। "आपुहि खारी खात है, बेंचत फिरै कपूर।" वाचिकज्ञानियों के लिए व्यंग्य है।

शब्द शब्द सब कोई कहैं, वो तो शब्द विदेह।
जिभ्या पर आवै नहीं, निरखि परखि करि लेह॥ 35॥

शब्दार्थ—शब्द विदेह= शब्दरूपी देह से रहित, जो शब्द से पृथक हो, शुद्ध चेतन। निरखि परखि= यथार्थ विवेक, पूर्ण पारख।

भावार्थ—सभी मतवादी शब्द-ही-शब्द को अपना उपास्य एवं लक्ष्य कहते हैं, परन्तु व्यक्ति का जो उपासनीय एवं लक्ष्य है वह तो शब्द के जालों से सर्वथा रहित शुद्ध चेतन है। वह जीभ पर आने की वस्तु नहीं है। उसकी केवल निरख-परख करो॥35॥

व्याख्या—लोग ईश्वर, ब्रह्म, राम, ॐ, प्रणव, वोहं, सोहं, खुदा, गॉड आदि शब्दों की झड़ी लगाते रहते हैं, परन्तु क्या परम तत्त्व शब्द है? सारे शब्द हवा के झोंके हैं। उनमें तथ्य नहीं मिलेगा। वह तो शब्द-विदेह है। वह शब्द-काया से रहित है। अर्थात वह शब्दस्वरूप नहीं है। वह जीभ पर आने वाली वस्तु नहीं है। किन्तु उसी की सत्ता से शब्द बोले जाते हैं, शब्द सुने जाते हैं, दृश्य देखे जाते हैं, गंध सूंघे जाते हैं, स्पर्श ग्रहण किये जाते हैं तथा स्वाद चखे जाते हैं। वह शब्द नहीं, शब्दों का ज्ञाता है और स्पर्श, रस, गंध, रूप एवं संकल्प-विकल्पों का भी ज्ञाता है।

यहां सद्गुरु ने स्वस्वरूप को समझने के लिए निरख-परख का रास्ता बताया है। 'निरख' का अर्थ है देखना, 'परख' का अर्थ है परीक्षा करना। निरख शब्द का प्रयोगकर यहां आंख से देखने की बात नहीं है। यहां अभिधा अर्थ नहीं किन्तु लक्षणा अर्थ है। यहां 'निरख-परख' का संयुक्त अर्थ है गहराई से समझना।

मैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—इन पांचों विषयों को जानता हूं, परन्तु मैं कौन हूं? पांचों विषय जड़ हैं और इन पांचों विषयों को जानने वाला मैं इनका द्रष्टा, मंता, ज्ञाता एवं बोद्धा हूं। द्रष्टा एवं बोद्धा चेतन होता है; अतएव मैं चेतन हूं। विषयों एवं बाहर से लौटकर जब व्यक्ति अंतर्मुख होता है, तब वह अपनी निरख-परख कर पाता है।

संकल्पों का आवरण जड़दृश्यों को उपस्थित करता है। जब साधक संकल्पों का त्याग कर देता है, तब उसे अपने स्वरूप का पूर्ण अनुभव होता है। "सोने के बरतन से सत्य का मुख ढका है।"[1] रमणीय प्रतीत होने वाले विषयों के स्मरणों से स्वरूपज्ञान आच्छादित रहता है। उसके हटने पर साधक स्वरूपस्थिति का साम्राज्य पाता है। स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति केवल कहने की नहीं, रहने की बात है।

जो अपने स्वरूप को न समझकर केवल शब्दों के पीछे भागते हैं, उनके लिए सद्गुरु अगली साखी में कहते हैं।

पर्वत ऊपर हर बहै, घोड़ा चढ़ि बसै गाँव।
बिना फूल भौंरा रस चाहै, कहु बिरवा को नाँव॥ 36॥

शब्दार्थ—बहै= चलना। बिरवा= पेड़।

भावार्थ—अपनी आत्मा को परम तत्त्व न समझकर शब्द-जालों में पड़े हुए जो अलग परमात्मा या मोक्ष खोजते हैं, वे मानो पत्थर पर हल चलाना चाहते हैं, घोड़े पर चढ़कर उस पर गांव बसाना चाहते हैं और उनका मन-भौंरा बिना फूल के ही रस चाहता है। कहो भला, कल्पना को छोड़कर उस वृक्ष का नाम क्या हो सकता है!॥ 36॥

व्याख्या—पत्थर के ऊपर हल नहीं चलता। चंचल घोड़े पर गांव नहीं बसता। बिना फूल के भौंरे को रस नहीं मिलता। जैसे उक्त बातों का होना असम्भव है, वैसे स्वरूपज्ञान तथा स्थिति छोड़कर एवं स्वात्माराम में रमण से हटकर कहीं भी बाहर सुख-शांति नहीं मिल सकती।

लोग पुराणों, महाकाव्यों एवं धर्मशास्त्रों की बातें पढ़ते और सुनते हैं और उनमें वर्णित स्वर्गों के काल्पनिक एवं मनोरम दृश्यों में खो जाते हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी परम्परा वालों ने अपने मन को बहलाने के लिए स्वर्ग का सुन्दर-से-सुन्दर रूप खींचा है। सभी मतवालों ने ऐसे ईश्वर का भी रूप गढ़ा है जो अपने भक्तों द्वारा

---

1. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। (ईश उपनिषद् 15)

अपनी थोड़ी खुशामद करने पर उन्हें सारी सुख-सुविधा देने के लिए तैयार बैठा है। आदमी की भोगों की इच्छाएं इस जीवन में पूरी नहीं होतीं। वे पूरी हो भी नहीं सकतीं। किसी की पूरी नहीं हुई हैं। तो यहां की अपूर्ण इच्छाओं की सृष्टि के रूप में उसने आकाश में स्वर्ग-लोक की कल्पना की है। वहां भगवान हैं, देवता हैं, दिव्य भोग हैं। परंतु स्वर्गलोक, वहां के भगवान तथा देवता तो झूठे हैं ही, वहां के दिव्य भोग वही हैं जो मलिन इन्द्रियों की क्रियाएं हैं। अप्सराएं, हूरें, गिल्में तथा इनसे मिलने वाले भोग वही हैं जो यहां शूकर-कूकर और बन्दर भोगते हैं। इतनी घृणित वस्तुओं में जिसका मन रमता हो उसने अध्यात्म की छाया भी नहीं हुई है।